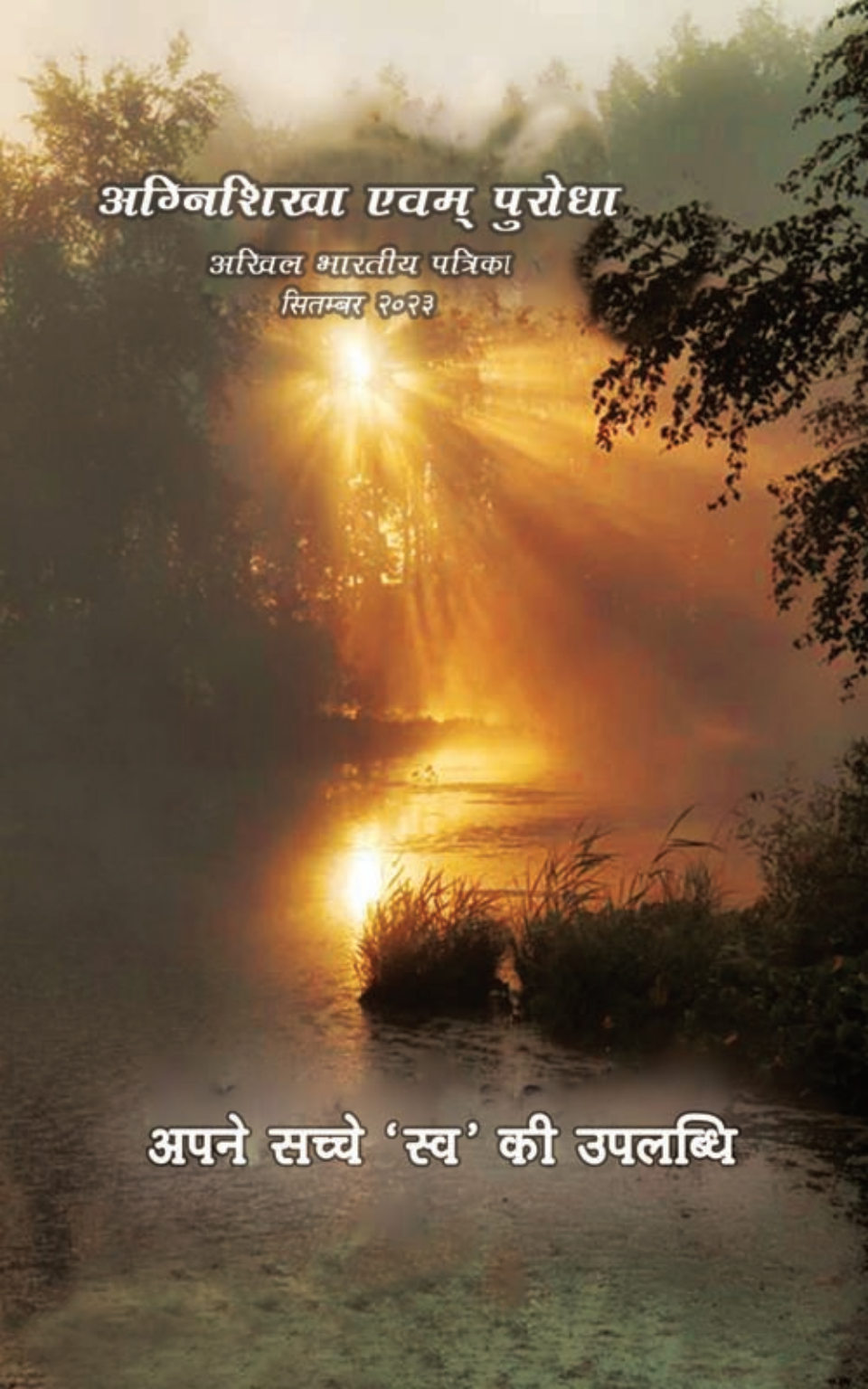
अग्निशिखा एवम् पुरोधा
अखिल भारतीय पत्रिका
सितम्बर २०२३
अपने सच्चे 'स्व' की उपलब्धि

# विषय-सूची

## अपने सच्चे 'स्व' की उपलब्धि


| | | |
|---|---|---|
| सन्देश | | ३ |
| अन्तर्यामिन् | | ५ |
| 'वह' तुम हो | | ७ |
| प्रभु की तीन स्थितियाँ | | १० |
| वैश्व आत्मा को उपलब्ध करना | | ११ |
| परात्पर की उपलब्धि | | १३ |
| यह है तेरा कार्य और तेरी सत्ता का लक्ष्य | | १५ |
| अज्ञान से निकलने के क्रमिक चरण | | १८ |
| तादात्म्य | | २३ |
| भगवान् में मिल जाने का पहला पग | | २४ |
| सकारात्मक तथा सबसे तेज़ मार्ग | | ३० |
| एक ही रास्ता है | | ३२ |


### पुरोधा


| | | |
|---|---|---|
| दैनन्दिनी | | ३५ |
| अविराम गति | नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय | ३७ |
| 'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन': भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा | नवजातजी | ४० |
| एक शिष्या के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार | 'श्रीमातृवाणी' से | ४३ |
| "लाडला बेटा" | वन्दना | ४५ |
| बूझो तो जानें (कविता) | श्री विश्वनाथ | ४९ |


---

**विशेष सूचना: पत्रिका के मुखपृष्ठ पर 'अग्निशिखा एवं पुरोधा' पढ़ कर पाठकों के मन में प्रश्न उठे कि यह बदलाव क्यों? पञ्जीकरण की कुछ कठिनाई की वजह से हम नाम बदलने पर विवश हुए। यही कारण है कि विषय-सूची में पत्रिका का वर्ष, अंक इत्यादि भी अगस्त से नये सिरे से शुरू हो गया है।**

**वैसे देखा जाये तो अग्निशिखा का यह हमारा ५४वाँ वर्ष चल रहा है।**

# सन्देश

## श्रद्धा ही नींव है

... यह विधि उन लोगों के लिए है जो एक दिव्य अस्तित्व में—-जिसे वे अपना भगवान् कहते हैं—श्रद्धा रखते हैं और जिसे वे स्वयं को उसे समर्पित कर चुके होते हैं। वे लोग पूर्णतया उसी के होते हैं, उनके जीवन की सभी घटनाएँ भागवत इच्छा की ही अभिव्यक्ति होती हैं, इन घटनाओं को वे केवल एक शान्त समर्पण-भाव से ही नहीं, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, कारण, उन्हें यह विश्वास रहता है कि जो कुछ भी उनके साथ घटता है वह सदा ही उनके भले के लिए होता है। उन्हें अपने भगवान् में तथा उसके साथ अपने वैयक्तिक सम्बन्ध में एक प्रकार का गुह्य विश्वास होता है। वे अपनी इच्छा पूर्ण रूप से भगवान् की इच्छा को अर्पित कर देते हैं और वे उसके अटल प्रेम और संरक्षण को अनुभव करते हैं, जीवन और मृत्यु की आकस्मिक घटनाओं से पूरी तरह से अप्रभावित। उनके अन्दर सदा यह अनुभूति रहती है कि वे पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ अपने प्रियतम के चरणों में प्रणत हैं अथवा उसकी बाँहों में आश्रय लिये हुए हैं और वहाँ पूर्ण सुरक्षा अनुभव कर रहे हैं। उनकी चेतना में भय, चिन्ता या दुःख के लिए ज़रा भी स्थान नहीं होता; इस सबका स्थान एक शान्त और हर्षपूर्ण आनन्द ले लेता है।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १६, पृ. ९२-९३

**"माँ-श्रीअरविन्द"**

# अन्तर्यामिन्

हमारे अन्दर स्थित हमारा पथ-प्रदर्शक पहले तो बहुधा हमारे व्यक्तिगत प्रयास की तीव्रता के कारण और साथ ही इस कारण भी हमसे छुपा रहता है क्योंकि हम अपने अहंकार के उद्देश्यों और बस अपने-आपमें ही मगन रहते हैं। जैसे-जैसे हमारे सम्मुख रास्ता स्पष्ट होता जाता है और अहंकारी प्रयास अपना स्थान एक अधिक शान्त आत्म-ज्ञान को दे देता है, वैसे-वैसे हम अपने अन्दर बढ़ते हुए प्रकाश के स्रोत को पहचानने लगते हैं।

तब हम इस बात से अभिज्ञ हो जाते हैं कि योग-पथ पर प्रवेश करने से पहले कैसे हमारी सभी अन्धकारमयी और परस्पर संघर्ष करती हुई क्रियाएँ उस लक्ष्य की ओर ही सचमुच ले जायी जा रही थीं जिनसे हम बाद में—जब हम सचेतन हो जाते हैं—अपने जीवन के निर्णायक मोड़ पर आकर मिलते हैं। क्योंकि तब हम अपने संघर्षों और प्रयासों, सफलताओं और असफलताओं के यथार्थ अर्थ को समझने लगते हैं। और अन्त में हम अपनी अग्निपरीक्षाओं और कष्टों के मर्म को भेद कर इस बात की सराहना कर सकते हैं कि वह सब जो हमें कष्ट पहुँचाता था और जिसके विरोध में हम ज़मीन-आसमान एक करने में लगे थे, उन सबका, यहाँ तक कि हमारे सभी पतनों और ठोकरों का भी महामूल्य था।

बाद में हम इस दिव्य पथ-प्रदर्शक को—अपने भूतकाल के जीवन पर दृष्टि डाल कर नहीं, बल्कि उसी क्षण अनुभव करने लगते हैं और स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि एक परात्पर द्रष्टा हमारे विचारों को, एक सर्व-आलिंगनकारी शक्ति हमारे संकल्पों और क्रियाओं को और सर्व-आकर्षक और सर्व-समावेशी परमानन्द तथा परम प्रेम हमारे भावमय जीवन को नये सिरे से गढ़ रहे हैं। साथ ही तब हम प्रकाश के इस स्रोत को अधिक वैयक्तिक रूप में भी अनुभव करने लगते हैं क्योंकि उसके प्रथम स्पर्श से लेकर अन्तिम पकड़ तक की सच्चाई हमारे सामने उजागर हो जाती है; हम परम स्वामी, सखा, प्रेमी तथा गुरु की सतत उपस्थिति का अनुभव करने लगते हैं। जब हमारी सत्ता विकसित होते-होते इस महानतर तथा विशालतर सत्ता के साथ एकत्व प्राप्त करने लगती है तब अपनी सत्ता के सारतत्त्व में हम इसी का अनुभव करते हैं। हम देखते हैं कि यह अद्‌भुत

तथा चमत्कारी विकास हमारे अपने निजी प्रयासों का फल नहीं है : एक शाश्वत 'पूर्णता' हमें अपनी छवि में उतार रही है। वह एकमेव जो योग-दर्शनों में वर्णित प्रभु या ईश्वर है, सचेतन सत्ता में विराजमान पथ-प्रदर्शक है (चैत्य गुरु या अन्तर्यामिन् है), जो विचारक का निरपेक्ष ब्रह्म है, अज्ञेयवादी का अज्ञेय तत्त्व और जड़वादी की वैश्व शक्ति है, जो परम अन्तरात्मा और परमा शक्ति है—वह एकमेव जिसे नाना धर्म भिन्न-भिन्न नाम और रूप देते हैं—वही हमारे योग का स्वामी है।

इस एकमेव को अपनी अन्तरात्मा तथा अपनी सम्पूर्ण बाह्य प्रकृति में देखना, जानना, वही बन जाना और उसे ही चरितार्थ करना हमेशा से ही हमारी सत्ता का गुप्त लक्ष्य रहा है और यही अब सचेतन उद्देश्य भी बन गया है। अपनी सत्ता के सभी भागों में और साथ ही समान रूप से इसके उन भागों में भी—जिन्हें भेद करने वाला हमारा मन हमारी सत्ता से बाह्य समझता है—इस एकमेव के बारे में सचेतन होना हमारी व्यक्तिगत चेतना की पराकाष्ठा है। इससे अधिकृत होना और अपने अन्दर और सभी चीज़ों में इसे अपने अधिकार में लेना—यही है सम्पूर्ण साम्राज्य और प्रभुत्व प्राप्त करने का लक्षण। निष्क्रियता और सक्रियता, शान्ति और शक्ति तथा एकता और विभिन्नता के सभी अनुभवों में इसका रस लेना ही वह सुख है जिसे जीवात्मा, अर्थात्, जगत् में अभिव्यक्त वैयक्तिक आत्मा अन्धकार में खोज रही है।...

*

इस पूर्ण उपलब्धि का अत्यन्त सुनिश्चित पथ यह है कि हम गुह्य रहस्य के उस स्वामी को ढूँढ़ लें जो हमारे अन्तर में निवास करता है तथा अपने-आपको निरन्तर उस दिव्य शक्ति की ओर उद्घाटित करें जो साथ ही दिव्य प्रज्ञा और प्रेम भी है, और फिर रूपान्तर करने का कार्य उसके हाथों में सौंप दें। परन्तु अहम्मयी चेतना के लिए शुरू में ऐसा करना ही कठिन होता है, और यदि वह ऐसा कर भी सके तो पूर्ण रूप से तथा प्रकृति के अंग-अंग में करना तो और भी कठिन होता है। शुरू-शुरू में यह इसलिए कठिन होता है कि हमारे विचार, संवेदन एवं भाव-भावनाओं की अहंमूलक आदतें उन द्वारों को बन्द कर देती हैं जिनसे हमें अपेक्षित अनुभव प्राप्त हो सकता है। बाद में यह इस कारण कठिन होता है कि इस

पथ के लिए अपेक्षित श्रद्धा, समर्पण और साहस अहंभावाच्छन्न आत्मा के लिए आसान नहीं होते। दिव्य क्रिया कोई वैसी क्रिया नहीं है जिसे अहंकारी मन चाहता या स्वीकार करता है। वह तो सत्य पर पहुँचने के लिए भ्रान्ति को, आनन्द पर पहुँचने के लिए दुःख को और पूर्णता पर पहुँचने के लिए अपूर्णता को काम में लाती है। अहंकार यह नहीं देख पाता कि वह किधर ले जाया जा रहा है; वह मार्गदर्शन के विरुद्ध विद्रोह करता है, विश्वास खो देता है, साहस छोड़ बैठता है। यदि केवल यही दुर्बलताएँ होतीं तो कोई बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि हमारे अन्तःस्थ दिव्य 'मार्गदर्शक' हमारे विद्रोह से रुष्ट नहीं होते, न तो वे हमारी श्रद्धा की कमी से निरुत्साहित होते हैं और न हमारी दुर्बलता के कारण उदासीन ही हो जाते हैं। उनमें माता का समस्त वात्सल्य और गुरु का अखण्ड धैर्य है।...

CWSA खण्ड २३, पृ. ६२-६४

# 'वह' तुम हो

अपनी आँखें सूर्य की ओर उठाओ, वह उस अद्‌भुत प्राण, प्रकाश और वैभव के हृदय में है। रात के समय अनगिनत तारा-मण्डलों को देखो जो उस असीम नीरवता में शाश्वत की भव्य पहरुए की आग की तरह दमक रहे हैं; वह नीरवता शून्य विस्तार नहीं है बल्कि एक अनन्य शान्ति और विस्मयकारी अस्तित्व की उपस्थिति से स्पन्दित होती है। वहाँ अपने खड्‌ग सहित 'ओरायन' (मृग) को अपनी मेखला सहित उस तरह चमकते देखो जैसे वह आर्ययुग के आरम्भ में दस हज़ार वर्ष पहले हमारे आर्य पूर्वजों के आगे चमका करता था, अपनी भव्यता में 'सीरिअस' (लुब्धक), आकाश-सागर में करोड़ों, अरबों मील दूर तैरते हुए 'लाइरा' (वीणा) को देखो। याद रखो कि ये अनगिनत लोक, जिनमें से अधिकतर हमारी पृथ्वी से अधिक बड़े और बलवान् हैं, अवर्णनीय गति से उस काल के चिर पुराण के इशारे पर घूम रहे हैं, कहाँ? किस ओर? स्वयं उसके सिवा कोई नहीं जानता। फिर भी वे तुम्हारे हिमालय से करोड़ों गुना अधिक पुराने, तुम्हारे पर्वतों की जड़ों से कहीं अधिक स्थायी और ऐसे ही बने रहेंगे जब तक कि उसकी

इच्छा उन्हें विश्व के शाश्वत वृक्ष से सूखे पत्तों की तरह झाड़ नहीं देती। काल की अनन्तता के बारे में कल्पना करो, देश की असीमता का अनुभव करो और फिर यह याद करो कि जब वे लोक नहीं थे, तब भी वह था, वैसा ही जैसा अब है और जब ये नहीं रहेंगे तब भी वह रहेगा, तब भी ठीक ऐसा ही रहेगा। देखो, वीणा के परे भी वह है और देश (आकाश) में बहुत दूर जहाँ से त्रिशंकु भी नहीं दिखायी देता, वहाँ भी वह है। और फिर धरती पर लौट आओ और यह पता लगाओ कि यह "वह है कौन"? वह तुम्हारे बहुत निकट है। उस ओर नज़र डालो; लाठी लेकर चलते हुए उस बूढ़े को देखो जो झुका हुआ, घुटने मोड़े तुम्हारे सामने से जा रहा है। क्या तुम यह अनुभव करते हो कि यह भगवान् ही जा रहे हैं? उधर धूप में हँसता हुआ एक लड़का भागा जा रहा है। क्या तुम्हें उसकी हँसी में भगवान् की हँसी सुनायी दे रही है? नहीं, वह इसकी अपेक्षा भी अधिक नज़दीक है, वह तुम्हारे अन्दर है, वह तुम ही हो। तुम ही करोड़ों मील दूर देश के अनन्त विस्तार में प्रज्वलित हो रहे हो, तुम ही विश्वस्त चरणों से वायवीय सागर की उठती-गिरती लहरों पर चलते हो; तुमने ही तारों को अपने स्थान पर जड़ा है और हाथों से नहीं उस योग से, उस नीरव निष्क्रिय निर्वैयक्तिक इच्छा से सूर्यों की माला को गूँथा है। उसी ने तुम्हें मेरी वाणी में स्वयं अपने-आपको सुनने के लिए आज यहाँ ला बिठाया है। हे प्राचीन योग के बालक, ऊपर देखो, और काँपने वाले और सन्देह करने वाले न बने रहो; डरो मत, शंका मत करो, दुःख मत करो क्योंकि तुम्हारे प्रतीयमान शरीर में वह विद्यमान है जो एक ही साँस में सृष्टि का सृजन और विनाश कर सकता है।

हाँ, वह इस सबके अन्दर आध्यात्मिक शक्ति के असीम सागर की तरह से है क्योंकि अगर वह न होता तो न तो यह बाह्य तुम और न यह बाह्य मैं, न ये सूर्य और न ये सब लोक एक लव-निमेष भी रह पाते।...

CWSA खण्ड १७, पृ. १३०-३१ **श्रीअरविन्द**

*जिसे हम अपना आपा कहते हैं वह है केवल अहंकार—हमारा सच्चा स्वरूप है, भगवान्।*

*२३ मार्च १९५८* *सफ़ेद गुलाब, पृ. ९०*

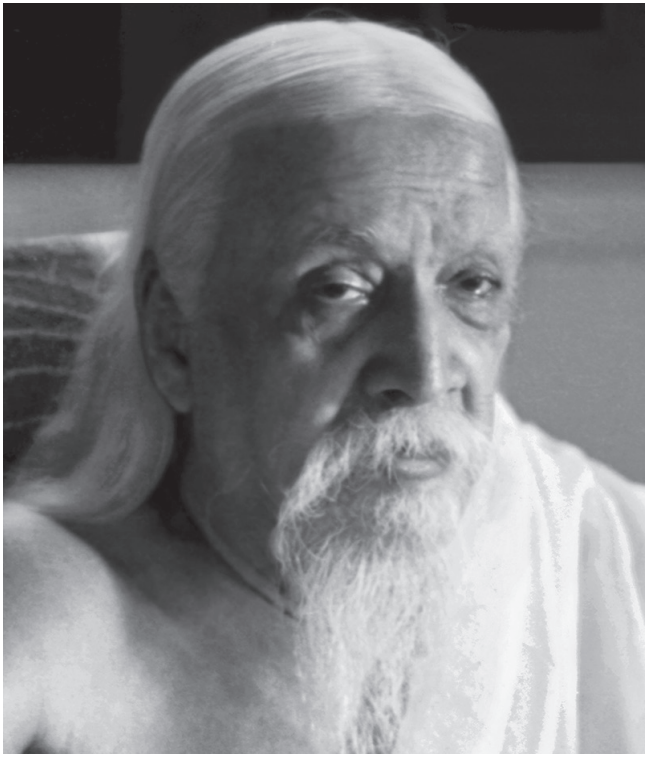

# अन्त ?

मर्त्य में अमर्त्य नामधारी हैं वे;
एक कलाकार देव यहाँ विराजमान हैं
जो स्वयं को भागवत रूपों में निरन्तर ढाल रहे हैं,
रुकने का नाम नहीं लेंगे वे

जब तक कि वह सब सम्पन्न नहीं होगा
जिसके लिए सितारों का निर्माण किया गया,
जब तक कि हृदय 'भगवान्' को पा नहीं लेगा
और अन्तरात्मा स्वयं को जान नहीं लेगी। और तब भी
कोई अन्त नहीं है।

CWSA खण्ड २, पृ. ६४४ **श्रीअरविन्द**

# प्रभु की तीन स्थितियाँ

*('सावित्री' से उद्धृत)*

(ब्रह्म की तीन स्थितियों के बारे में यहाँ कहा गया है : पहली है परात्पर, दूसरी वैश्व, उसके बाद आती है वैयक्तिक)

उस निरपेक्ष ने, उस पूर्ण तत्त्व ने, उस परमैकम् ने
अपनी मूक पराशक्ति का चिर-नीरवता से बाहर आवाहन किया था
जहाँ वह अरूपायित और आकारहीन निस्तब्धता में सोयी थी,
अपनी अचल निद्रा के द्वारा वह महाकाल से रक्षा कर रही थी
उसके एकान्त की अनिर्वचनीय तपस्या की।

वह निरपेक्ष, वह पूर्ण तत्त्व, वह परमैकम्
निज नीरवता के साथ दिशाओं में प्रवेश कर गया :
उसने एक सत्ता से इन असंख्य व्यक्तियों को रच डाला है;
उसने अपनी आत्म-शक्ति की लाखों आकारों में सृष्टि कर डाली है;
अब वह समस्त में बसता है, जो अपने एकाकी महाकाश में बसता था;
वह स्वयं ही भुवनाकाश है और महाकाल भी केवल वह है।

वह निरपेक्ष, वह पूर्णतत्त्व, वह अविकारी प्रभु,
वह परमैकम् है जो हमारे अन्दर हमारी गुह्य सत्ता है,
उसने हमारी अपूर्णता के छद्मवेष को धारण किया है,
उसने इस मांसल देह को अपना निजी गेह बनाया है,
अपने प्रतिबिम्ब को मानवीय साँचे में ढाल दिया है
जिससे उसके दिव्य माप में हम उन्नत हो सकें;
तब विश्वकर्मा हमें फिर से एक दिव्यता के आकार में
ढाल देगा, और आरोपित कर देगा देवत्व की
एक योजना इस नश्वर मानव-काया पर,
इस तरह हमारे नश्वर मनों को अपनी अमरता की ओर उठा कर,
इस क्षण को शाश्वतता का संस्पर्श दे देगा।

*'सावित्री', पृ. ६७* **श्रीअरविन्द**

# वैश्व आत्मा को उपलब्ध करना

जब हम मन, प्राण, शरीर तथा उन सभी चीज़ों से पीछे हट जाते हैं जो हमारी शाश्वत सत्ता नहीं हैं, तो हमारा पहला अनिवार्य लक्ष्य यह होता है कि हम अपने बारे में उस ग़लत विचार से पिण्ड छुड़ा लें जिस विचार के द्वारा हम अपने-आपको अपनी निम्नतर सत्ता के साथ एक मान बैठते हैं, और तब हम बस अपनी बाहरी सत्ता को ही देख पाते हैं कि वह नश्वर और हमेशा बदलती रहने वाली सत्ता है, जैसा कि यह सारा जगत् है। वास्तव में हमें अपने-आपको स्व, आत्मा, शाश्वत के रूप में देखना और जानना चाहिये; हमें सचेतन रूप से अपनी सच्ची सत्ता में जीना चाहिये। इसलिए ज्ञानमार्ग में यह हमारा सर्वप्रथम, एकमात्र और अनन्य न सही, लेकिन मुख्य विचार और प्रयास अवश्य होना चाहिये। लेकिन एक बार जब हम यह जान लेते हैं कि हम सचमुच सनातन आत्मा हैं, जब हम वही बन जाते हैं, तब भी एक गौण लक्ष्य को प्राप्त करना बाक़ी रह जाता है, और वह है—यह शाश्वत आत्मा जो हम हैं और यह नश्वर सत्ता और नश्वर जगत् जिसे अब तक मिथ्या रूप से हमने अपनी सच्ची सत्ता और अपनी स्थिति समझ रखा था—इन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना।

किसी भी सच्चे सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए यह ज़रूरी है कि वह दोनों वास्तविकताओं के साथ हो। पहले हमने यह समझ रखा था कि अगर यह शाश्वत आत्मा मिथ्या या माया नहीं है तब भी एक ऐसी सुदूर धारणा तो अवश्य है जो हमारी इस पृथ्वी से बहुत दूर है, क्योंकि तब वस्तुओं की प्रकृति को देख कर हम यह सोच ही नहीं सकते थे कि 'समय' के प्रवाह में बदलने और गति करने वाले इस मन, प्राण और शरीर के सिवाय हम कुछ और भी हैं। एक बार जब हम निम्नतर स्थिति की इस जकड़ से मुक्त हो जाते हैं तब हम स्वाभाविक रूप से आत्मा और जगत् के बीच के उसी ग़लत सम्बन्ध के दूसरे पक्ष को पकड़ कर बैठ जाते हैं, यानी तब हम इस शाश्वत सत्ता को ही—जो हम क्रमशः बनते जाते और जिसमें हम निवास करते हैं—एकमात्र वास्तविकता समझने लगते हैं और फिर संसार और मनुष्य को अपने से बहुत दूर माया तथा मिथ्या वस्तु के रूप में तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं, क्योंकि तब हम ऐसी स्थिति में

होते हैं जहाँ हम धरती पर अपनी जड़ें नहीं जमाते, क्योंकि हम सोचते हैं कि इस मायाजाल से ऊपर उठ कर हम रूपान्तरित हो चुके हैं और अब इसके साथ कोई सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता ही नहीं। और अगर मन, प्राण और शरीर से मुँह मोड़ कर हमने शाश्वत आत्मा की प्राप्ति को अपना मुख्य ही नहीं, बल्कि एकमात्र और अनन्य लक्ष्य बना लिया हो तब तो ऊपर कहे गये तरीक़े से संसार और मनुष्य को मिथ्या-माया समझना और भी अधिक सम्भव है। क्योंकि, तब हम इस बीच के स्तर और उस शिखर के बीच के सोपानों को पार किये बिना एकदम तेज़ी से, शुद्ध मन के साथ शुद्ध आत्मा की ओर चले जा सकते हैं और तब हमारी चेतना पर इस गहरी अनुभूति की छाप पड़ सकती है कि इस निम्न और उस उच्चतम लोक के बीच एक ऐसी खाई है जिस पर पुल बाँधने के लिए हमें फिर से उस तक उतरना होगा, और उस शुद्ध आत्मा को दोबारा उस धरती पर उतरना गवारा नहीं लगता और एक बार ऊपर पहुँच कर वह नीचे उतरना ही नहीं चाहती।

लेकिन, यहाँ एक बड़ा सा लेकिन, परन्तु आ जाता है, वह यह कि मनुष्य यह नहीं जानता कि आत्मा और जगत् में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन दोनों को जोड़ने वाला एक सूत्र भी है, और इनके बीच ऐसी कोई खाई नहीं है जिसे छलाँग लगा कर पार करने की ज़रूरत हो। आत्मा और जड़-जगत् एक क्रमबद्ध और विकसनशील सत्ता की सीढ़ी का सबसे उपरला और सबसे निचला डण्डा हैं। इसलिए इन दोनों के बीच एक सच्चा सम्बन्ध और इन्हें जोड़ने वाला कोई सूत्र अवश्य ही होना चाहिये जिसके द्वारा सनातन ब्रह्म शुद्ध आत्मा और पुरुष रहने के साथ-साथ अपने रचे विश्व को अपने अन्दर धारण करने में भी समर्थ है; और जो सत्ता शाश्वत के साथ जुड़ी हुई है उसके लिए यहाँ रहते हुए भी, इस अज्ञानमय जगत् में डूबे रहने की बजाय, सचेतन होकर 'उनके' साथ सम्बन्ध जोड़ना सम्भव होना चाहिये। सम्बन्ध जोड़ने वाला यह सूत्र है, आत्मा तथा पृथ्वी के समस्त अस्तित्व की एकता।...

दूसरे शब्दों में, शुद्ध, स्वयम्भू और देश-कालातीत परात्पर आत्मा की चेतना के साथ-साथ हमें विश्व में समायी हुई चेतना को भी स्वीकार करना और उसके साथ एक होना होगा। हमें उस अनन्त के साथ एकत्व प्राप्त

करना होगा जो स्वयं को सभी लोकों का आदिमूल और आधार बनाता है और जो सभी प्राणियों में निवास करता है। यही वह उपलब्धि है जिसे प्राचीन वेदान्तियों ने 'आत्मा' में सभी भूतों (समस्त अस्तित्व) का दर्शन और सभी भूतों में आत्मा का 'दर्शन' कहा है; और साथ ही वे एक ऐसे मनुष्य की सर्वोच्च उपलब्धि का भी वर्णन करते हैं जिसमें अस्तित्व का प्रथम या आदि चमत्कार फिर से घटित हुआ है, यानी, जिसे यह उपलब्धि हुई है कि 'उसकी' अपनी सत्ता, आत्मा ने ही अभिव्यक्त सत्ता के लोकों ने ही इन सभी भूतों का रूप धारण कर रखा है[१] इसी में मूल रूप से आत्मा और जगत् के उस समस्त वास्तविक सम्बन्ध का वर्णन आ गया है जिसे हमें संकीर्णकारी अहं द्वारा पैदा किये गये मिथ्या सम्बन्ध के स्थान पर स्थापित करना होगा। अनन्त सत्ता के बारे में यही वह नयी दृष्टि और अनुभूति है जिसे हमें प्राप्त करना होगा। यही है उस एकता का आधार जिसे हमें सबके साथ स्थापित करना होगा।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३६८-७० **श्रीअरविन्द**

# परात्पर की उपलब्धि

... हमें आत्मा या ब्रह्म की मूल अवस्थाओं और मुख्यतः उसके सच्चिदानन्द-रूपी त्रिविध सत्स्वरूप को भी चरितार्थ करना होगा। केवल शुद्ध सत्ता ही नहीं, बल्कि शुद्ध चेतना भी और उस सत्ता एवं चेतना का शुद्ध आनन्द भी आत्मा का सत्स्वरूप एवं ब्रह्म का सारतत्त्व है।

और, आत्मा या सच्चिदानन्द की उपलब्धि दो प्रकार की होती है। एक तो होती है शान्त-नीरव, निष्क्रिय, निश्चल, आत्मलीन, स्वयंपूर्ण सत्-चित्-आनन्द की जो एक एवं निर्वैयक्तिक हैं और गुणों की क्रीड़ा से रहित एवं विश्व के अनन्त दृश्य-प्रपञ्च से मुख मोड़े हुए हैं या इसके उदासीन और निष्क्रिय

[१] यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मयेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। —ईश उपनिषद्

द्रष्टा हैं। दूसरी उपलब्धि भी इन्हीं सत्-चित्-आनन्द की होती है, पर उसमें हमें अनुभव होता है कि ये परमोच्च और मुक्त हैं, जगत् के प्रभु हैं, अविचल शान्ति में से कार्य करते हैं, सनातन आत्म-लीनता में से अपने-आपको अनन्त कर्मों और गुणों के रूप में बाहर उँडेलते हैं, एकमेव परमोच्च व्यक्ति हैं जो एक विशाल सम निर्वैयक्तित्व में व्यक्तित्व की इस समस्त क्रीड़ा को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं, जगत् के अनन्त प्रपञ्च को बिना आसक्ति के, पर किसी प्रकार के अभेद्य पार्थक्य के भी बिना, दिव्य प्रभुत्व के साथ तथा अपने सनातन ज्योतिर्मय आत्मानन्द की अगणित रश्मियों के द्वारा धारण कर रहे हैं—एक ऐसी अभिव्यक्ति के रूप में धारण कर रहे हैं जिसे वे अपने अन्दर समाये हुए हैं, पर जो उन्हें अपने अन्दर समा नहीं सकती, जिस पर वे मुक्त रूप में शासन करते हैं और इसलिए जिससे वे बद्ध नहीं होते। पर यह धार्मिक लोगों का व्यक्तिस्वरूप ईश्वर नहीं है न यह दार्शनिकों का सगुण ब्रह्म ही है, बल्कि यह वह सत्ता है जिसमें वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक तथा सगुण और निर्गुण परस्पर सुसमन्वित हो जाते हैं। यह परात्पर है जो इन दोनों को अपनी सत्ता में धारण करता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए मूल अवस्थाओं के रूप में इन दोनों का प्रयोग भी करता है। अतः, पूर्णयोग के साधक के लिए यह परात्पर ही उपलब्धि का ध्येय है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ३९१ **श्रीअरविन्द**

पहली बात है, अन्तरात्मा की खोज; विचार, भावावेग और कामना के बाहरी पुरुष की नहीं बल्कि अपने अन्दर की गुह्य चैत्य सत्ता की, अपने अन्दर के दिव्य तत्त्व की खोज।...

यह आत्मोपलब्धि का पहला चरण है—अहं के स्थान पर अन्तरात्मा को, दिव्य चैत्य पुरुष को सिंहासनारूढ़ करना।

**श्रीअरविन्द**

# यह है तेरा कार्य और तेरी सत्ता का लक्ष्य

यह है तेरा कार्य और तेरी सत्ता का लक्ष्य जिसके लिए तू यहाँ है —भागवत अतिमानव और परम देव का पूर्ण पात्र बनना। इसके अतिरिक्त तुझे जो कुछ करना है वह केवल अपने-आपको तैयार करना या मार्ग का हर्ष या अपने प्रयोजन से पतन है। लेकिन उद्देश्य यही है, प्रयोजन यही है। मार्ग की शक्ति में, मार्ग के हर्ष में नहीं बल्कि लक्ष्य के हर्ष में ही तेरी सत्ता की महानता और उसका आनन्द है। मार्ग का हर्ष इसलिए है क्योंकि जो तुझे खींच रहा है वह स्वयं मार्ग पर तेरे साथ है और तुझे चढ़ने की शक्ति इसलिए दी गयी थी कि तू स्वयं अपने शिखरों पर चढ़ सके।

अगर तेरा कोई कर्तव्य है तो यह है तेरा कर्तव्य, अगर तू पूछे कि मेरा लक्ष्य क्या हो तो इसे होने दे अपना लक्ष्य, अगर तू सुख की माँग करता है तो इससे बढ़ कर कोई हर्ष नहीं है, क्योंकि और सभी हर्ष टूटे-फूटे और सीमित हैं, स्वप्नों के हर्ष, निद्रा के हर्ष या आत्म-विस्मृति के हर्ष हैं। परन्तु यह तेरी समस्त सत्ता का आनन्द है। अगर तू पूछे कि मेरी सत्ता क्या है, तो तेरी सत्ता यह है—भगवान्। और बाक़ी सब उसके टूटे-फूटे या विकृत रूप हैं। अगर तू सत्य की खोज में है तो यही है सत्य। इसे ठीक अपने सामने रख और सभी चीज़ों में उसके प्रति निष्ठावान् रह।

... किसी ने ठीक कहा कि मनुष्य का स्वभाव ही है, अपने-आपको अतिक्रान्त कर जाना। वस्तुतः यही उसका स्वभाव है और यही है उसके आत्मातीत होने का भागवत लक्ष्य।

तो वह स्व कौन-सा है जिसे तुझे पार करना है और वह कौन-सा स्व है जो तुझे बनना है, क्योंकि इस जगह तुझे कोई भूल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यही भूल, अपने-आपको न जानना ही तेरे सारे दुःख का स्रोत है, तेरी लड़खड़ाहटों का कारण है।

तुझे जिसके परे जाना है, वह है ऐसा स्व जो तू प्रतीत होता है और वह है मनुष्य, जैसा तू उसे जानता है, यानी आभासी पुरुष। और यह मनुष्य क्या है? वह एक मानसिक सत्ता है जो प्राण और भौतिक का दास है और जहाँ वह प्राण और भौतिक का दास नहीं है वहाँ अपने मन का दास है। परन्तु यह बहुत बड़ी और भारी दासता है क्योंकि मन के दास होने का

अर्थ है, मिथ्या का, सीमित और आभासी का दास होना।

तुझे जो स्व बनना है वह वही स्व है जो तू मन, प्राण और भौतिक के परदे के पीछे है, इसका अर्थ है आध्यात्मिक होना, भगवान्, अतिमानव और वास्तविक पुरुष बनना क्योंकि जो मानसिक सत्ता के ऊपर है वह अतिमानव है, इसका अर्थ है अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीर का स्वामी होना। इसका अर्थ है अभी तू जिस प्रकृति का यन्त्र है उसका राजा बनना, अभी जो तुझे अपने पैरों तले दबाये हुए है उसके ऊपर उठ जाना, इसका अर्थ है स्वाधीन होना, ग़ुलाम नहीं, एक होना, विभक्त नहीं, अमर होना, मृत्यु के अन्धकार में न रहना, प्रकाश से भरपूर होना, अन्धकार से नहीं, आनन्द से भरा होना, दुःख-दर्द का खिलौना नहीं, शक्ति में ऊपर उठा लिया जाना, दुर्बलता में फेंका जाना नहीं। यह है, अनन्त में जीना और सान्त पर अधिकार रखना। यह है, भगवान् में रहना और उनके साथ उनकी सत्ता में एक होना। स्वयं तू होने का अर्थ है, यह सब और इससे जो कुछ प्रवाहित होता है वह होना।

तू अपने-आपमें स्वतन्त्र है, अतः अपने मन में स्वतन्त्र, अपने प्राण और शरीर में स्वतन्त्र। आत्मा ही स्वतन्त्रता है।

भगवान् के साथ और सभी सत्ताओं के साथ एक हो, स्वयं अपने अन्दर निवास कर, अपने छोटे से अहं में नहीं। आत्मा ही ऐक्य है।

तू स्वयं बन, अमर हो और मृत्यु पर अपना विश्वास न रख, क्योंकि मृत्यु तेरी नहीं, तेरे शरीर की होती है। तेरी आत्मा अमरता है।

अमर होने का अर्थ है, सत्, चित् और आनन्द में अनन्त होना, क्योंकि तेरी आत्मा अनन्त है और जो सान्त है वह केवल उसकी अनन्तता के सहारे जीता है।

तू ये चीज़ें है इसलिए तू ये सब बन सकता है। अगर तू ये चीज़ें न होता तो तू कभी ये न बन पाता। जो कुछ तेरे अन्दर है वही तेरी सत्ता में प्रकट किया जा सकता है। तू इससे भिन्न अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन तू अपने-आपको प्रतीतियों का दास क्यों बनाये भला?

बल्कि उठ, अपने परे जा, अपना आप बन। तू मनुष्य है और मनुष्य का सारा स्वभाव ही है अपने-आपसे अधिक होना। वह पाशविक मनुष्य था अब वह पाशविक मनुष्य से अधिक बन गया है। वह विचारक, शिल्पी

और सुन्दरता की खोज करने वाला है। वह विचारक से अधिक होगा, वह ज्ञान का द्रष्टा होगा। वह शिल्पी से अधिक होगा, वह सृष्टि का स्रष्टा और स्वामी होगा। वह सुन्दरता की खोज करने वाले से अधिक होगा। वह समस्त सुन्दरता और समस्त आनन्द का भोग करेगा। भौतिक, वह अपने अमर तत्त्व को खोजता है, प्राण, वह अमर जीवन और अपनी सत्ता की अनन्त शक्ति को खोजता है। मानसिक और ज्ञान में एकांगी वह समस्त प्रकाश और सम्पूर्ण अन्तर्दर्शन की खोज करता है।

इसको पाना ही अतिमानव होना है, क्योंकि वह मन में से अतिमन में उठ जाना है। उसे भागवत मन कह लो या दिव्य ज्ञान या अतिमन, वह है—भागवत इच्छा और भागवत चेतना की शक्ति और उसका प्रकाश। अतिमानस के द्वारा ही आत्मा ने अपने-आपको देखा और लोकों में अपना सृजन किया। उसी के द्वारा वह उनमें निवास करती और उन पर शासन करती है, उसी के द्वारा वह 'स्वराट्' और 'सम्राट्' है।

अतिमन अतिमानव है, इसलिए मन के परे उठना उसकी शर्त है।

अतिमानव होने का अर्थ है, दिव्य जीवन जीना, देव होना, क्योंकि देवगण भगवान् की शक्तियाँ हैं। वह मानवता के बीच भगवान् की शक्ति है।

भागवत सत्ता में जीना और दिव्य आत्मा की चेतना और उसके आनन्द, उसकी इच्छा और उसके ज्ञान को अपने ऊपर अधिकार करने देना, उसे अपने साथ और अपने द्वारा खेलने देना—यही सच्चा अर्थ है।

यही (सत्ता के) पर्वत-शिखर पर होने वाला तेरा रूपान्तर है। यह अपने अन्दर भगवान् को खोजना और उन्हें अपने आगे सभी चीज़ों में प्रकट करना है। उनकी सत्ता में निवास कर, उनकी ज्योति से चमक, उनकी शक्ति से कार्य कर, उनके आनन्द के साथ आनन्द मना। वह अग्नि और वह सूर्य और वह सागर बन जा। वह आनन्द, वह महानता और वह सुन्दरता बन जा।

जब तू यह कर ले, भले एक अंश में ही, तो तू अतिमानवता के पहले चरण को पा लेगा।

CWSA खण्ड १२, पृ. १५०-५२ **श्रीअरविन्द**

***प्रभु की सेवा करने से बढ़ कर कोई आनन्द नहीं है। —श्रीमाँ***

# अज्ञान से निकलने के क्रमिक चरण

... प्रकृति ने अहंकार का आविष्कार इसलिए किया कि व्यक्ति स्वयं को समूह की अचेतना और अवचेतना से अलग करके व्यक्तिगत जीवन्त मन, प्राण-शक्ति, अन्तरात्मा बन जाये जो अपने चारों तरफ़ के जगत् के साथ समन्वय बिठाये न कि समूह में डूब जाये और स्वयं को एकदम अलग-थलग करके अस्तित्वहीन और प्रभावहीन बना दे। क्योंकि व्यक्ति सचमुच वैश्व सत्ता का एक अंश है, लेकिन साथ ही वह इससे कुछ अधिक भी है, वह अन्तरात्मा है जो परात्पर से अवतरित हुआ है। व्यक्ति परात्परता को अपने अन्दर एकदम से अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह वैश्व निश्चेतना के बहुत निकट है, मौलिक पराचेतना के पर्याप्त क़रीब नहीं है कि उसे अभिव्यक्त कर सके। स्वयं को अन्तरात्मा या स्व के रूप में जानने के पहले उसे अपने-आपको मानसिक तथा प्राणिक अहं, या दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्ति के रूप में जानना होगा।

और यह बात नहीं है कि अगर वह अपना अहंकारमय व्यक्तित्व प्राप्त कर ले तो वह स्वयं को जान लेगा; सच्चा आध्यात्मिक व्यक्तित्व मानसिक अहंकार, प्राणिक अहंकार या भौतिक अहंकार नहीं है : यह पहली क्रिया है जहाँ व्यक्ति अपनी इच्छा, अपनी शक्ति या फिर अपने ज्ञान का उपयोग करता है। इसीलिए एक ऐसा समय आना चाहिये जब मनुष्य को अपनी अहंकारमयी सत्ता की सतह के नीचे देखना चाहिये और अपने-आपको जानने का प्रयत्न करना चाहिये; नहीं तो वह बस अपने सतही अहंकारमय व्यक्तित्व में ही रमा रहेगा, उसे अपने सच्चे व्यक्तित्व की खोज में निकलना ही होगा : उसके बिना वह 'प्रकृति' की प्रारम्भिक शिक्षा पर ही ठहर जायेगा और कभी उसके गभीरतर और विशालतर पाठों को नहीं सीख पायेगा; भले उसका व्यावहारिक ज्ञान और कौशल कितना ही महान् क्यों न हो, वह पशु से बस कुछ ऊपर ही पहुँच पायेगा। पहले तो उसे अपनी दृष्टि, स्वयं अपनी मनोवृत्ति, अपने ऊपर मोड़नी होगी और अपने स्वभावगत तत्त्वों—अहंकार, मन और उसके यन्त्र, प्राण, शरीर—में भेद करना होगा, जब तक कि वह यह न देख ले कि उसका समस्त जीवन उसके अहंकारमय सन्तोष और पुष्टि से भिन्न किसी महानतर लक्ष्य पर टिका हुआ है। अपने क्षुद्र व्यक्ति

और क्षुद्र अहं से निकल कर वह 'प्रकृति' तथा मानवता की विशालता में प्रवेश कर, समस्त जगत् के साथ एकता प्राप्त करने के पथ पर अग्रसर हो सकता है : वह उसे परा प्रकृति में, भगवान् में पा सकता है और इस तरह भगवान् के साथ एकता पाने के पथ पर बढ़ सकता है। व्यावहारिक रूप से वह दोनों पथों पर बढ़ने की कोशिश करता है और कभी यहाँ तो कभी वहाँ भटक भी जाता है। लेकिन चूँकि वह निरन्तर खोज में लगा रहता है इसलिए अपनी उन आंशिक खोजों के साथ वह समस्याओं के छोटे-मोटे हल पर पहुँच जाता है।

और आज भी मनुष्य जिस स्तर पर है, निरन्तर रूप से वह अन्वेषण करने, जानने, अपने-आपको सार्थक बनाने की कोशिश करता रहता है; प्रकृति के बारे में उसका ज्ञान, भगवान् के बारे में उसका ज्ञान, उसका आत्म-ज्ञान, उसकी सत्ता की पूर्णता—ये सब उसके अस्तित्व के परम लक्ष्य को पाने में उसकी मदद करते हैं।...

इसका कारण यह है कि व्यक्ति वास्तव में 'वह' यानी, 'तत्' है, 'तत्' को पाना ही उसकी एकमेव आवश्यकता है। उन 'परम' के प्रति अपने सम्पूर्ण समर्पण और आत्म-उत्सर्ग में वह स्वयं को पूर्ण रूप से पा सकता है। मानसिक, प्राणिक, भौतिक, यहाँ तक कि आध्यात्मिक अहंकार को जड़ से निकाल कर वह आकारविहीन और सीमाविहीन व्यक्ति अपनी ही अनन्तता में प्रवेश कर जाता है; यानी उस व्यक्तित्व और साथ ही उस असीमता में उसे यह अनुभूति होती है कि वह कुछ नहीं है, कोई नहीं है, या सब कुछ है, हर एक है, या वह 'एकमेव' है जो सभी चीज़ों के परे है, निरपेक्ष है, व्यक्ति में वह आसीन ब्रह्म ही है जो यह अद्‌भुत मिलन—योग—सम्पन्न करता है; वही परम अपनी सत्ता की शाश्वत इकाई, यानी व्यक्ति के साथ अपनी उस शाश्वत एकता का मिलन करवाता है जो सबको समझती है, सबको आलिंगन में भरे हुए भी सबके परे चली जाती है। व्यक्ति का अपने अहं से पिण्ड छुड़ाना अनिवार्य है, लेकिन वह अपने स्व के परे नहीं जा सकता—हाँ, वह उस स्व को परम रूप में, विश्व-रूप में पा ले तो बात अलग है। क्योंकि स्व अहंकार नहीं है; वह 'सर्व' के साथ एकात्म है और वही 'एकमेव' है, और जब हम उसकी खोज करते हैं तो पाते हैं कि हम जिस 'एकमेव' को अपने अन्दर देखते हैं वही सर्वत्र

है : तब सभी विरोध, समस्त अलगाव तिरोहित हो जाता है, लेकिन वह आध्यात्मिक सत्य हमेशा बना रहता है।...

अतः, जैसे ही मनुष्य प्रकृति तथा भगवान् के सम्बन्ध के अपने सतही, उथले विचार से परे चला जाता है उसके उच्चतर आत्म-ज्ञान का आरम्भ तभी हो जाता है। पहला पग है यह जानना कि यही जीवन सब कुछ नहीं है, तब वह अपनी अस्थायी शाश्वतता के बारे में अभिज्ञ हो जाता है, जब वह इस बारे में सचेतन हो जाता है कि इस भौतिक जगत् के परे और स्तर हैं तब वह अपनी सीमा में बँधा नहीं रहता, केवल वर्तमान क्षणों में ही नहीं जीता बल्कि इस बात से परिचित हो जाता है कि वह अपने अन्दर स्वयं अपनी अनन्तता को लिये चलता है। दूसरा पग व्यक्ति तब उठाता है जब वह इस बात को जान लेता है कि उसकी सतही जाग्रत् अवस्था तो उसकी सत्ता का केवल एक छोटा-सा अंश है, उसे तो निश्चेतना और अवचेतना की गहराइयों की खाइयों को खँगाल कर पराचेतना की ऊँचाइयों पर उठना है ताकि अपने अज्ञान के मनोवैज्ञानिक स्तरों को भी वह हटा सके। तीसरा पग है यह पता लगाना कि उसके मन, प्राण तथा शरीर—जो उसके साधन हैं—उनके परे उसके अन्दर किसी ऐसी वस्तु का निवास है जो अमर है, सदा विकसनशील वैयक्तिक आत्मा है, वही उसकी प्रकृति को सहारा देती है, वही अक्षर आत्मा और स्व है और उसे यह भी पता लगाना है कि उसकी आध्यात्मिक सत्ता की कितनी श्रेणियाँ हैं; जब वह इसकी खोज कर लेगा कि उसके अन्दर सब कुछ उस आत्मा की ही अभिव्यक्ति है और जब वह अपने निम्नतर और उच्चतर अस्तित्व के बीच की कड़ी को देख लेगा तब वह अपने मूलभूत अज्ञान को दूर करने के लिए कूच कर देगा। अपनी आत्मा और अपने स्व को खोज कर वह भगवान् की खोज कर लेता है; उसे यह पता लग जाता है कि इस सांसारिकता के पीछे एक आत्मा है, वैश्व चेतना में वह उस 'आत्मा' का अन्तर्दर्शन 'प्रकृति' तथा इस जगत् की सत्ताओं के पीछे विराजमान भागवत 'वास्तविकता' के रूप में करता है; उसका मन उस विचार या निरपेक्ष के उस भाव के प्रति खुल जाता है जिसके लिए स्व, व्यक्ति तथा विश्व के एक नहीं अनेक चेहरे हैं; उस पर अहंकार तथा मूलभूत अज्ञान की पकड़ ढीली पड़ जाती है। अपने अस्तित्व को अपने विस्तृत होते हुए आत्म-ज्ञान के साँचे में ढालने के

प्रयास में उसके जीवन, विचार तथा क्रिया का सारा दृष्टिकोण और उद्देश्य क्रमशः परिवर्धित होते-होते रूपान्तरित हो जाते हैं; अपने बारे में उसका अज्ञान इत्यादि कम होता जाता है : तब वह उस पथ पर चलने के लिए पग उठा लेता है जो मिथ्यात्व और दुःख-दर्द से निकाल कर उसे उसके सच्चे तथा पूर्ण अस्तित्व की ओर आगे बढ़ाये लिये जाता है।

CWSA खण्ड २२ , पृ. ७२२-२५ **श्रीअरविन्द**

*ऐसा कोई भी नहीं है जिसके लिए भगवान् को पाना असम्भव हो।*

*कुछ लोगों के लिए बहुत-बहुत जन्म लग जायेंगे जब कि ऐसे लोग भी हैं जो इसी जन्म में उन्हें पा लेंगे। यह संकल्प का प्रश्न है। स्वयं तुम्हें चुनाव करना होगा।*

*लेकिन मैं इतना ज़रूर कहूँगी कि वर्तमान समय में परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल हैं।*

*मधुर माँ,*

*सचमुच "भगवान् को पाने" का क्या अर्थ है?*

*इसका अर्थ है अपने अन्दर या आध्यात्मिक शिखरों पर भगवान् के बारे में सचेतन होना और एक बार तुम उनकी उपस्थिति के बारे में सचेतन हो जाओ तो अपने-आपको पूरी तरह उनके अर्पित कर देना ताकि उनकी इच्छा से भिन्न तुम्हारे अन्दर कोई इच्छा न रहे और अन्त में अपनी चेतना को उनकी चेतना के साथ एक कर देना। यह है "भगवान् को पाना"।*

*... बात ऐसी है कि हम ऐसे काल में नहीं हैं जब मनुष्य अपने ही बल-बूते पर छोड़ दिये जायें। भगवान् ने अपनी चेतना को उन्हें प्रकाश देने के लिए नीचे भेजा है और जो भी उससे लाभ उठा सकते हैं उन्हें उससे लाभ उठाना चाहिये।*

*आशीर्वाद।*

'श्रीमातृवाणी', *खण्ड १६, पृ. ४५९-६०, ४६७*

realisation

**उपलब्धि**

# तादात्म्य

*(माँ की पुस्तक 'प्रार्थना और ध्यान' से, १९ नवम्बर १९१२)*

कल मैंने उस अंग्रेज़ से, जो तुझे बड़ी सच्ची इच्छा के साथ खोज रहा था, कहा कि मैंने तुझे निश्चित रूप से पा लिया है और हमारा 'ऐक्य' स्थायी है। सचमुच जिस अवस्था के बारे में मैं सचेतन हूँ वह ऐसी ही है। मेरे सभी विचार तेरी ओर जाते हैं, मेरे सभी कर्म तुझे ही समर्पित हैं। मेरे लिए तेरी 'उपस्थिति' चरम, अविकार और अचल तथ्य है और तेरी 'शान्ति' सदा-सर्वदा मेरे हृदय में निवास करती है। फिर भी मैं जानती हूँ कि ऐक्य की यह स्थिति, कल जिसे पाना मेरे लिए सम्भव होगा उसकी तुलना में, तुच्छ और अस्थिर है और मैं अभी तक उससे दूर, निस्सन्देह बहुत दूर हूँ उस तादात्म्य से जिसमें मैं पूरी तरह "मैं" के भाव को खो दूँगी, उस "मैं" को जिसका उपयोग मैं अब भी अपना भाव प्रकट करने के लिए करती हूँ, लेकिन जो हर बार कृत्रिम उपयोग होता है, मानों वह एक ऐसी परिभाषा हो जो उस विचार को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है जो अभिव्यक्त होना चाहता है। मुझे यह मानव-सम्पर्क के लिए अनिवार्य मालूम होता है, लेकिन सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि यह "मैं" किसे अभिव्यक्त करता है; और अब भी कितनी ही बार जब मैं इसका उच्चारण करती हूँ तो मेरे अन्दर से 'तू' बोलता है क्योंकि मैं पृथक्ता का भाव खो चुकी हूँ।

लेकिन यह सब अभी भ्रूण-अवस्था में है और पूर्णता की ओर बढ़ता चलेगा। कैसा सन्तोषजनक आश्वासन है तेरी 'सर्व-शक्तिमत्ता' के अन्दर इस शान्त विश्वास में!

तू सब कुछ है, सब जगह है, सब में है और यह शरीर जो कर्म करता है, तेरा अपना शरीर है, उसी तरह जैसे यह दृश्य विश्व पूरी तरह से तू है; इस पदार्थ में, जो तू होते हुए भी तेरा तत्पर और स्वेच्छापूर्ण सेवक बनना चाहता है, तू ही है जो श्वास लेता है, सोचता है और प्रेम करता है।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १, पृ. १०

# भगवान् में मिल जाने का पहला पग

भगवान् में अपना अहं मिला देना! लेकिन पहली बात, पूरी तरह व्यष्टीकृत होने से पहले भगवान् के अन्दर अपना अहं नहीं मिलाया जा सकता। क्या तुम *पूरी तरह व्यष्टीकृत* होने का अर्थ जानते हो? सभी बाहरी प्रभावों का विरोध करने में समर्थ होने का अर्थ?

अभी कुछ दिन पहले मुझे किसी की चिट्ठी मिली थी, उसने मुझे लिखा कि वह साधारण साहित्य की, उदाहरण के लिए, उपन्यास या नाटक की किताबें पढ़ते झिझकता है क्योंकि उसकी प्रकृति में इन किताबों के चरित्रों के संस्कार ग्रहण करने की, इन चरित्रों की भावनाओं, विचारों और स्वभाव को जीने लगने की अलंघनीय प्रवृत्ति है। हम जितना सोचते हैं उससे ज़्यादा ही लोग ऐसे होते हैं। वे कोई किताब पढ़ते समय अपने अन्दर हर प्रकार की भावनाएँ, विचार, इच्छाएँ, मनोवृत्तियाँ, योजनाएँ, यहाँ तक कि आदर्श भी अनुभव करते हैं। वे पढ़ने में पूरी तरह निमग्न हो जाते हैं। उन्हें इस बात का ख़याल तक नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति के चरित्र के निन्यानबे भाग मुलायम मक्खन के बने होते हैं—स्वभाविक है खाने-लायक नहीं... लेकिन जिस पर अँगूठा रखते ही छाप पड़ जाती है।

अब सब कुछ "अँगूठा" होता है : एक व्यक्त विचार, पढ़ा हुआ वाक्य, देखी हुई वस्तु, दूसरे व्यक्ति की क्रियाओं का निरीक्षण, और फिर पड़ोसी की इच्छा। और ये सारी इच्छाएँ... है न, जब हम उन्हें देखते हैं तो वे सब वहाँ मौजूद रहती हैं, इस तरह मिली-जुली *(माताजी उँगलियों में उँगलियाँ पिरोती हैं)*, हर एक ऊपर आने की कोशिश करती है और अन्दर-बाहर निरन्तर गड़बड़ पैदा करती है...। वे लोगों में इस तरह आती-जाती हैं, विद्युत्-धारा की तरह। तुम्हें इसका भान तक नहीं होता और यहाँ उन सभी इच्छाओं का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जो अभिव्यक्त होने की कोशिश करती हैं; और विजय होती है सबसे शक्तिशाली की। लेकिन चूँकि ये इच्छाएँ बहुत-सी होती हैं और बहुत बड़ी संख्या के विरुद्ध लड़ने के लिए तुम अकेले होते हो, इसलिए यह आसान नहीं है।

और तब तुम समुद्र की लहरों पर डाट की तरह उछाले जाते हो...। एक दिन तुम्हें यह चाहिये, दूसरे दिन दूसरी चीज़। एक क्षण तुम इस तरफ़

धकेले जाते हो और दूसरे क्षण उस तरफ़। कभी तुम आसमान की ओर नाक उठाते हो *(माताजी मुद्रा करती हैं)*, तो कभी गड्ढे में धँस जाते हो। और यही है आदमी का जीवन!

पहले सचेतन, सुनिर्मित और *व्यष्टीकृत* सत्ता बनो, ऐसा व्यक्ति बनो जो अपने-आपमें, अपने द्वारा, अपने वातावरण से स्वतन्त्र रह कर जीता हो, जो अपने-आप बदले बिना कोई भी चीज़ सुन सकता हो, कोई भी चीज़ पढ़ सकता हो, कोई भी चीज़ देख सकता हो। वह बाहर से उसी चीज़ को लेता है जिसे वह लेना चाहता है; जो कुछ उसकी योजना के अनुकूल न हो उसे वह सहज रूप से अस्वीकार कर देता है और कोई चीज़ उस पर तब तक छाप नहीं छोड़ सकती जब तक कि वह ख़ुद उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे। तब तुम व्यष्टि-सत्ता बनने लगते हो! जब तुम व्यष्टि-सत्ता बन जाओगे तभी तुम अपने-आपको समर्पित कर सकते हो।

क्योंकि, जब तक तुम्हारे पास कोई चीज़ नहीं होती तब तक तुम उसे दे नहीं सकते। पहले तुम्हें होना चाहिये, और फिर उसके बाद तुम अपने-आपको निवेदित कर सकते हो।

*जब तक तुम अपने-आप में अस्तित्व नहीं रखते तब तक तुम कुछ दे भी नहीं सकते।* अतः, जैसा कि तुम कहते हो, पृथक् करने वाले अहं के विलीन होने के लिए तुम्हें अपने-आपको पूरी तरह, पूर्णतया, बिना किसी शर्त के दे सकना चाहिये। और अपने-आपको दे सकने के लिए पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये। और अस्तित्व होने के लिए तुम्हें व्यष्टीकृत होना चाहिये।

अगर तुम्हारा शरीर ऐसे कठोर रूप से न बना होता, जैसा कि वह है—क्योंकि यह भयंकर रूप से कठोर है, है न?—हाँ तो, अगर यह सब इतना दृढ़ न होता, अगर तुम्हारी इस तरह की ठोस चमड़ी न होती, अगर बाहरी रूप से तुम उसी तरह के होते जैसे तुम प्राणिक और मानसिक रूप में हो तो वह छत्रिक (जेलीफ़िश) से भी बदतर होता! तब हर एक चीज़ दूसरी के अन्दर घुल-मिल जाती, इस तरह...। ओह! कैसा घोटाला होता वह! इसीलिए पहले हम ऐसा रूप धारण करने के लिए बाधित थे जो बहुत कठोर हो। और बाद में हम उसके बारे में शिकायत करते हैं। हम कहते हैं: "शरीर कठोर है, यह एक बवाल है। इसमें नमनीयता का, लचीलेपन

का अभाव है, इसमें वह तरलता नहीं है जिससे हम भगवान् में विलीन हो सकें।" लेकिन यह एकदम ज़रूरी था, क्योंकि इसके बिना... अगर तुम यूँ ही अपने शरीर से बाहर निकलते (तुममें से अधिकतर यह नहीं कर सकते, क्योंकि तुम्हारी प्राण-सत्ता शरीर-सत्ता से बढ़ कर व्यष्टीकृत नहीं है), अगर तुम अपने शरीर से बाहर निकलो और प्राण-जगत् में जाओ तो तुम वहाँ देखोगे कि वहाँ सभी चीज़ें आपस में मिली-जुली हैं, वे घुल-मिल जाती हैं, अलग होती हैं; हर प्रकार के स्पन्दन, शक्तियों के प्रवाह आते-जाते हैं, लड़ते हैं, एक-दूसरे को नष्ट करने की कोशिश करते हैं, एक-दूसरे पर अधिकार जमाते हैं, एक-दूसरे को हड़प लेते हैं, बाहर फेंकते हैं... और बस इसी तरह चलता रहता है! लेकिन इस सबमें सच्चा व्यक्तित्व पाना बहुत कठिन है। ये शक्तियाँ, गतिविधियाँ, कामनाएँ और स्पन्दन होते हैं।

वहाँ व्यक्ति होते हैं, व्यक्तित्व होते हैं! लेकिन ये सब शक्तियाँ होती हैं। उस जगत् में जो लोग व्यष्टीकृत हैं वे या तो वीर हैं या असुर!

और अब, मन में... *(मौन)* अगर तुम अपने भौतिक मन के असली रूप से अवगत होओ... कुछ लोग इसे सार्वजनिक चौक कहते हैं, क्योंकि वहाँ सब कुछ प्रवेश करता है, उसे पार करता है, उसमें से गुज़रता है, और वापस आ जाता है...। सभी विचार वहाँ जाते हैं, एक जगह से प्रवेश करते हैं, दूसरी तरफ़ से निकलते हैं, कुछ (विचार) यहाँ होते हैं, कुछ वहाँ, और यह एक सार्वजनिक चौक होता है, बहुत अच्छी तरह संगठित नहीं, क्योंकि साधारणतः विचार एक-दूसरे के सामने आते हैं, टकराते हैं, *हर प्रकार की दुर्घटनाएँ होती हैं। लेकिन तब तुम्हें यह ख़याल आता है: "मैं अपना मन किसे कह सकता हूँ?" या "मेरा मन है क्या?"*

यह छोटी-सी, ओह, बस यह छोटी-सी चीज़, *सोचने की अपनी पद्धति* बनाने के लिए वर्षों की एकाग्रता, सावधानीसहित विवेकपूर्ण और सुसंगत काम, व्यवस्था, चुनाव और निर्माण की ज़रूरत होती है!

तुम समझते हो कि सोचने की तुम्हारी अपनी पद्धति है। ऐसा बिलकुल नहीं है। यह पूरी तरह इस पर निर्भर करता है कि तुम किन व्यक्तियों से बात करते हो या कौन-सी पुस्तकें पढ़ते हो या तुम उस समय किस मनःस्थिति में हो। यह इस पर भी निर्भर करता है कि तुम्हारा पाचन ठीक

है या ख़राब; यह इस पर निर्भर करता है कि तुम ऐसे कमरे में बन्द हो जहाँ काफ़ी हवा नहीं है या खुली जगह में हो; यह इस पर निर्भर करता है कि तुम्हारे सामने सुन्दर भूदृश्य है या नहीं; यह इस पर निर्भर करता है कि धूप है या वर्षा! तुम्हें पता नहीं होता, लेकिन तुम तरह-तरह की चीज़ों के बारे में पूरी तरह विभिन्न प्रकार से सोचते हो, वह भी ऐसी ढेरों चीज़ों के अनुसार जिनका तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं!

और इस सबको समन्वित, सुसंगत और युक्तियुक्त विचार होने के लिए लम्बे श्रमसाध्य कार्य की ज़रूरत होती है। और फिर, इसमें सबसे अच्छी बात तो यह है कि जब तुम एक सुन्दर मानसिक रचना बनाने में सफल हो जाते हो, जो सुनिर्मित, मज़बूत और शक्तिशाली होती है तो तुमसे पहली बात यह कही जाती है : "इसे तुम्हें तोड़ना होगा ताकि तुम भगवान् के साथ एक हो सको!" लेकिन तुम भगवान् के साथ तब तक एक नहीं हो सकते जब तक कि तुम उसे बना न लो, क्योंकि तुम्हारे पास भगवान् को देने के लिए केवल उन्हीं चीज़ों का ढेर होता है जो तुम नहीं हो! *अपने-आपको समर्पित कर सकने के लिए सबसे पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये।* मैंने अभी जो बात कही थी उसे ही दोहरा रही हूँ।

सचमुच, जगत् की वर्तमान अवस्था में हम भगवान् को जो एकमात्र चीज़ दे सकते हैं, वह है अपना शरीर। लेकिन यही वह चीज़ है जिसे हम 'उन्हें' नहीं देते। हाँ, हम अपना काम समर्पित करने की कोशिश कर सकते हैं! लेकिन इसमें अभी बहुत सारे तत्त्व हैं जो सत्य नहीं हैं!

तुम अपने शरीर को भगवान् के साथ मिला कर एक कर देना चाहते हो, है न? प्रयास कर देखो! तुम यह किस तरह करोगे? तुम अपने मन को मिला सकते हो, अपने प्राण को मिला सकते हो, तुम अपनी सारी भावनाओं को मिला सकते हो, तुम अपनी सारी अभीप्साओं को मिला सकते हो, तुम यह सब मिला सकते हो—लेकिन अपना शरीर, उसे किस तरह मिलाओगे? तुम उसे एक कड़ाही में तो नहीं मिलाओगे! *(हँसी)* लेकिन यही एक चीज़ है जिसके बारे में तुम निश्चिति के साथ कह सकते हो : "यह है", उसे नाम दे सकते हो; लेकिन तुम्हारा नाम भी एक रिवाज है... फिर, तुम अपने को किसी नाम से बुलाने के अभ्यस्त हो—तुम कहते हो : "यह मैं हूँ।" तुम शीशे में देखते हो, और यद्यपि बीस साल

पहले तुम जो थे और अब जो हो उसमें बहुत भेद है... वह पहचाना भी नहीं जाता... फिर भी कोई चीज़ है जिसके कारण तुम कहते हो: "हाँ यह मैं हूँ।" हाँ? "मैं फ़लाना हूँ"—पियेर, लुई, ज़ाक, आंद्रे, कुछ भी...।

*(थोड़ी चुप्पी के बाद)* और यह भी, अगर हम अपने-आपको हर सातवें साल देखें, तो सारे कोषाणु बदले हुए होते हैं, और केवल एक प्रकार की आदत से शरीर वही बना रहता है। क्या वह वही चीज़ रहता है? तुम्हारे पास बचपन की फ़ोटो हैं? और फिर दस, बीस, तीस की आयु की फ़ोटो हैं?—क्योंकि हम अपने-आपको बहुत अधिक पहचानना चाहते हैं, इसलिए पहचान लेते हैं; वरना, सचमुच, हम वही नहीं रहते...। जब हम इतने छोटे थे और अब, जब कि हम इतने बड़े हो गये हैं, इसमें काफ़ी फ़र्क पड़ जाता है! इसलिए तो, यह लो...

यह सब... मैं यह सब तुम्हें अभिभूत करने के लिए नहीं कह रही। यह केवल तुम्हें यह बताने के लिए है कि भगवान् के अन्दर अपने अहं को विलीन कर देने की बात करने से पहले, तुम्हें सर्वप्रथम थोड़ा-बहुत यह जानना चाहिये कि तुम स्वयं क्या हो। अहं उपस्थित है। उसकी आवश्यकता यह है कि तुम सचेतन, स्वतन्त्र, व्यष्टीकृत सत्ताएँ बनो—मेरा मतलब है, स्वतन्त्र सत्ता बनो—ताकि तुम सार्वजनिक चौक न बन जाओ, जहाँ सब कुछ आड़ा-तिरछा चलता है! ताकि तुम अपने अन्दर जी सको। इसीलिए अहं का अस्तित्व है। यह इस तरह है; चमड़ी भी इसीलिए है, इस तरह... यद्यपि सचमुच, भौतिक शक्तियाँ भी चमड़ी में से गुज़रती हैं। एक स्पन्दन होता है जो कुछ दूरी तक जाता है। फिर भी, वह चमड़ी ही है जो हमें एक-दूसरे में घुल-मिल जाने से रोकती है। लेकिन यह ज़रूरी है कि बाक़ी सब कुछ भी इस तरह हो।

*(थोड़ी चुप्पी के बाद)* और फिर, बाद में, तुम यह सब भगवान् को अर्पित कर देते हो। वर्षों तक काम करने की ज़रूरत है। तुम्हें केवल... *(मौन)*... अपने बारे में, अपने सभी ब्योरों के बारे में ही सचेतन नहीं होना चाहिये, बल्कि तुम जिसे "मैं" कहते हो, उसे चैत्य केन्द्र के, अपनी सत्ता के दिव्य केन्द्र के चारों ओर संगठित करना चाहिये ताकि वह एक अद्वितीय, सुसंगत और पूरी तरह सचेतन सत्ता बन सके। और चूँकि यह दिव्य केन्द्र अपने-आपमें पहले से ही *(माताजी अर्पण की मुद्रा करती हैं)*

पूरी तरह भगवान् को समर्पित है, इसलिए अगर हर चीज़ को सामञ्जस्यपूर्ण रूप से उसके चारों ओर सुव्यवस्थित किया जाये तो सब कुछ भगवान् के प्रति समर्पित हो जायेगा। और तब, जब भगवान् ठीक समझें, जब घड़ी आ जाये, जब व्यष्टीकरण का काम पूरा हो जाये, तब भगवान् तुम्हें अपने अहं को उनके अन्दर मिला देने की, और आगे से केवल भगवान् के लिए जीने की स्वीकृति देते हैं।

लेकिन इसका निर्णय भगवान् करते हैं। उससे पहले यह ज़रूरी है कि तुम यह काम पूरा कर लो, सचेतन सत्ता बन जाओ, जो ऐकान्तिक रूप से और अनन्य भाव से भगवान् के इर्द-गिर्द केन्द्रित हो और 'उन्हीं' के द्वारा शासित हो। और इस सबके बाद भी अहं बना रहता है; क्योंकि अहं ही तुम्हारी व्यष्टि-सत्ता बनाने में काम आता है। लेकिन एक बार जब वह कार्य पूर्ण हो जाये, पूरी तरह चरितार्थ हो जाये, तब, उस क्षण, तुम भगवान् से कह सकते हो, "यह लो, मैं तैयार हूँ। क्या आप मुझे चाहते हैं?" और साधारणतः भगवान् कहते हैं, "हाँ।" सब कुछ पूरा हो जाता है, सम्पन्न हो जाता है। और तुम भगवान् के काम के लिए सच्चे यन्त्र बन जाते हो। लेकिन पहले यन्त्र को गढ़ना ज़रूरी है।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ६, पृ. २९२-९८

... अपनी सत्ता को चरितार्थ करना, अपनी सत्ता के सर्वोच्च सत्य के सचेतन सम्पर्क में आना, यह चाहे *किसी* भी रूप में, *किसी* भी तरीक़े से हो—इसका महत्त्व नहीं—किन्तु रास्ता यही है। हम अपने अन्दर एक सत्य को लिये रहते हैं—प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर यह सत्य होता है, और इसी सत्य के साथ उसे संयुक्त होना चाहिये, इसी सत्य को जीना चाहिये। इस प्रकार, इस सत्य के साथ संयुक्त होने तथा इसे प्राप्त करने के लिए जिस रास्ते का वह अनुसरण करेगा, वही वह रास्ता होगा जो उसे 'ज्ञान' के *अधिकाधिक* निकट ले जायेगा। दूसरे शब्दों में, ये दोनों—व्यक्तिगत उपलब्धि और 'ज्ञान'—पूर्णतया एक हैं।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १०, पृ. १६०

# सकारात्मक तथा सबसे तेज़ मार्ग

*(श्रीमाँ कक्षा में 'धम्मपद' से बौद्ध शिक्षा नामक अध्याय पढ़ती हैं जो निम्नांकित वाक्य से समाप्त होता है, उसके बाद वे उसकी व्याख्या करती हैं:)*

"न नैतिकता के नियमों से और व्रतों से, न महाज्ञान से, न ध्यान करने से, न एकान्त-सेवन से, न सोचने से, सच्चा आनन्द पाया जाता है, बल्कि सब इच्छाओं से मुक्त होने से ही यह पाया जाता है।"

सब इच्छाओं से मुक्त होना निश्चय ही आसान बात नहीं है, कभी-कभी उसमें सारा जीवन ही बीत जाता है। और सच कहा जाये तो यह तरीक़ा अधिक नकारात्मक लगता है, हालाँकि विकास की एक अवस्था में अनुशासन के रूप में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी होता है, बल्कि अगर हम अपने-आपको धोखा न देना चाहें तो अनिवार्य भी। क्योंकि शुरुआत में तुम बड़ी इच्छाओं से मुक्त होने का प्रयास करते हो, ऐसी इच्छाओं से जो एकदम स्पष्ट हैं और जो तुम्हें इतना ज़्यादा परेशान करती हैं कि तुम्हें उनके बारे में कोई ग़लतफ़हमी नहीं रहती, उनसे मुक्त होने का प्रयास करते हो। फिर आती हैं वे अधिक सूक्ष्म इच्छाएँ जो ऐसी चीज़ों का रूप ले लेती हैं जिन्हें करना चाहिये, जो आवश्यक हैं, और कभी-कभी अन्दर से आते आदेश का रूप ले लेती हैं और तब उन्हें खोज पाने के लिए और उन पर विजय प्राप्त करने के लिए बहुत समय और अधिक सच्चाई की ज़रूरत होती है। अन्त में ऐसा लगता है कि बाह्य वस्तुओं के लिए पार्थिव जगत् में, भावों और स्पन्दनों के लिए भावनात्मक जगत् में, विचारों के लिए मानसिक जगत् में तुमने इन अभिशप्त इच्छाओं से पिण्ड छुड़ा लिया है; किन्तु यह देखो, वे तुम्हें फिर से आध्यात्मिक जगत् में आ मिलती हैं और वहाँ वे बहुत अधिक ख़तरनाक, अधिक सूक्ष्म, अधिक तीव्र और बहुत अधिक अदृश्य होती हैं और अपने-आपको इतने पवित्र वेश में ढक लेती हैं कि तुम उन्हें इच्छा कहने की हिम्मत नहीं कर पाते।

और जब तुम इन सब पर विजय प्राप्त कर चुकते हो, उन्हें ढूँढ़ पाते हो, उन्हें उखाड़ पाते हो और उनसे मुक्त हो जाते हो तब भी यही कहा

जायेगा कि तुमने कार्य के बस नकारात्मक रूप को ही सिद्ध किया है।

बुद्ध ने कहा है या उनसे कहलवाया गया है कि जब तुम सब इच्छाओं से मुक्त हो जाते हो तो स्वाभाविक रूप से ही असीम आनन्द में प्रवेश पा लेते हो। शायद यह परमानन्द कुछ रूखा-सूखा है और कम-से-कम मुझे तो राह पर सबसे जल्दी ले जाने वाला मार्ग नहीं लगता।

यदि तुम्हें समस्या से शुरू में ही निपटना हो तो साहस और दृढ़ता से कूद पड़ो और इच्छाओं के पीछे लम्बी, श्रमसाध्य, कष्टकर और धोखा देने वाली मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने की जगह, सरलता से, पूर्ण रूप से, बिना शर्त के अपने-आपको 'परम सत्' को, 'परम संकल्प' को, 'परम आत्मा' को दे दो। उत्साह के साथ अपनी सारी सत्ता को और सत्ता के सब भागों को बिना हिसाब किये भगवान् को दे देना—यही अहं से छूटने का सबसे छोटा रास्ता और सबसे मौलिक उपाय है। तुम कहोगे कि यह करना मुश्किल है, लेकिन कम-से-कम इसमें ऊष्मा, उमंग, उत्साह, ज्योति, सौन्दर्य हैं, इसमें एक उमंग-भरा और सर्जनात्मक जीवन है।

यह बात सच है कि इच्छा के बिना अहं को प्रश्रय देने के लिए कोई ख़ास चीज़ नहीं रहती और तुम्हें यह प्रतीति होती है कि चेतना इतनी ज़्यादा कंटकाकीर्ण बन जाती है कि अगर अहं मिट्टी में मिल जाये तो तुम्हारे स्वत्व की कोई चीज़ भी मिट्टी में मिल जाती है, और तुम निर्वाण में जाने के लिए तैयार हो जाते हो जो विशुद्ध रूप से और सीधा-सादा विनाश है।

लेकिन हम यहाँ जिसे सच्चा निर्वाण मानते हैं वह है, परम प्रभु की गरिमा में अहं का अदृश्य हो जाना। और इस उपाय को मैं सकारात्मक उपाय कहती हूँ, सर्वांगीण, समग्र, सम्पूर्ण, बिना कुछ बचाये, बिना व्यापार का आत्म-दान।

इस घटना-मात्र से ही कि तुम अपने विषय में न सोच कर, केवल अपने लिए न जीकर, केवल अपने लिए कुछ न करके, जो अधिक-से-अधिक सुन्दर है, ज्योतिर्मय है, आनन्दमय है, शक्तिमय है, करुणामय है, असीम है, उसके विषय में सोचते हो, इतना गभीर आनन्द देता है कि उसकी तुलना और किसी भी चीज़ से नहीं की जा सकती।

इसी एक चीज़ का मूल्य है... जिसके लिए **प्रयत्न** किया जाना चाहिये। बाक़ी सब तो समय बिताना है।

एक पहाड़ पर धीरे-धीरे, मेहनत से, क़दम-क़दम करके, घूम-फिर कर सदियों में चढ़ पाने और अदृश्य पंखों को खोल कर सीधा शिखर तक उड़ जाने में यही फ़र्क है।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ३, पृ. ३००-३०२

# एक ही रास्ता है

... *एक* ही रास्ता है, अहं को जाना चाहिये, बस, इतना ही। यही है। केवल जब "मैं" के स्थान पर कुछ भी न रहे : वह इस तरह से बिलकुल चपटा हो जाये *(किसी बहुत बड़ी, समतल, बिना शिकन की चीज़ का संकेत)*, जिसमें एक प्रकार का... यह शब्दों के द्वारा भी अभिव्यक्त नहीं होता, पर एक बहुत ही *स्थायी* संवेदन के साथ : "जैसी तेरी इच्छा, जैसी तेरी इच्छा" (शब्द बहुत तुच्छ बन जाते हैं)। वास्तव में यह ठोस संवेदन होता है कि इस *(शरीर)* का अस्तित्व ही नहीं है, इसका केवल उपयोग किया जा रहा है—केवल 'वह' है। 'वही' यह करता है *(दबाव का संकेत)*। 'उसका' यह संवेदन, यह सचेतन 'विस्तार' जो *(माँ बाँहें फैलाती हैं)*...। अन्त में तुम निश्चय ही इसे देखते हो *("देखते हो", यह रूपकों वाला अन्तर्दर्शन नहीं है, यह एक दृष्टि है... पता नहीं किस तरह की! परन्तु यह बहुत ठोस है, रूपकों वाले अन्तर्दर्शनों से कहीं अधिक ठोस है)*, इस *बृहत्* 'शक्ति' का अन्तर्दर्शन, यह *बृहत्* 'स्पन्दन' जो दबाव डालता है, दबाव डालता है, दबाव डालता है... और फिर यह जगत् जो इसके नीचे कुलबुलाता है और चीज़ खुल जाती है, और जब यह खुल जाती है तो वह प्रवेश करता और फैलता है।

यह सचमुच मज़ेदार है।

यही एकमात्र समाधान है। कोई और नहीं। बाक़ी सब... अभीप्साएँ, कल्पनाएँ, प्रत्याशाएँ हैं... यह अभी तक अतिमानव है, अतिमानस नहीं। यह एक उच्चतर मानवजाति है जो सारी मानवता को ऊपर खींचने की कोशिश करती है, लेकिन वह... उसका कोई फ़ायदा नहीं, कोई फ़ायदा नहीं।

इस समस्त मानवजाति का चित्र बहुत स्पष्ट है जो ऊपर चढ़ने के

लिए चिपटी रहती है, जो इस तरह पकड़े रहने की कोशिश करती है, पर वह अपने-आपको देना नहीं चाहती—वह लेना चाहती है! इससे काम न चलेगा। उसे अपने-आप हट जाना होगा। तभी 'वह वस्तु' आकर अपना स्थान ले सकेगी।

सारा रहस्य इसी में है।

उदाहरण के लिए, मानवजाति का यह सारा पक्ष जो चीज़ों को ज़बरदस्ती हथियाना चाहता है और उन्हें ऊपर वहाँ खींचता है *(माथे तक की ऊँचाई का संकेत)*... यह मज़ेदार है: यह मज़ेदार है, परन्तु यह *वह नहीं* है! वह नहीं है; ये सब सम्भावनाएँ समाप्त करनी होंगी जिससे कि मानवता के अन्दर कोई चीज़ इसे समझ सके... कि केवल वही है *(माँ आत्म-विलोपन की मुद्रा में हाथ फैलाती हैं)*, अपने-आपको दण्डवत् मुद्रा में लिटा दो, जब तक कि स्वयं तुम्हारा अस्तित्व ही ग़ायब न हो जाये।

वास्तव में, यह—ग़ायब होना सीखना—सबसे कठिन चीज़ है।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ११, पृ. २२९-३०

*माँ, जब हम प्रयास करते हैं तो हमारे अन्दर कोई चीज़ बहुत ज़्यादा आत्म-तुष्ट हो जाती है, शेखी बघारती है और अपने प्रयास से सन्तुष्ट हो जाती है और इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। तो हम इससे कैसे पिण्ड छुड़ा सकते हैं?*

आह, यह वह है जो देखा करता है कि तुम क्या कर रहे हो! जब तुम कुछ करते हो तो हमेशा कोई उसे देखता रहता है। तो कभी-कभी, वह गर्व से फूल उठता है। स्पष्ट है कि गर्व प्रयास में से बहुत सारे बल को खींच लेता है। मेरा ख़याल है कि यह वही चीज़ है: यह अपने-आपको कार्य करते हुए, अपने-आपको जीते हुए देखने की आदत है। अपने-आपका अवलोकन ज़रूरी है, लेकिन मेरा ख़याल है कि पूरी तरह सच्चा और सहज होना उससे भी ज़्यादा ज़रूरी है, तुम जो कुछ करो उसमें बहुत ज़्यादा सहज-स्वाभाविक होओ: हमेशा अपने-आपको काम करते हुए देखते न रहो और अपने-आपकी परख—कभी-कभी कड़ाई के साथ परख—न करते रहो। वास्तव में, यह लगभग उतना ही बुरा है जितना सन्तोष के

साथ अपने-आपको शाबाशी देना। दोनों चीज़ें समान रूप से बुरी हैं। तुम्हें अपनी अभीप्सा में इतना सच्चा होना चाहिये कि तुम्हें पता भी न चले कि तुम अभीप्सा कर रहे हो, तुम स्वयं अभीप्सा बन जाओ। जब वास्तव में इतनी प्राप्ति हो जाये, तो तुम एक असाधारण शक्ति पा लोगे।

एक मिनट के लिए, तुम इसे बस, एक मिनट के लिए पा लो, और तुम बरसों की सिद्धि के लिए तैयारी कर लोगे। जब तुम अपनी ही ओर निहारने वाली सत्ता नहीं रहते, एक ऐसे अहंकार नहीं रहते जो अपने-आपको क्रिया करते हुए देखता रहता है, जब तुम स्वयं क्रिया बन जाते हो, और सबसे बढ़ कर, स्वयं अभीप्सा बन जाते हो, तो यह सचमुच अच्छा है। जब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह जाता जो अभीप्सा करता है, जब स्वयं अभीप्सा पूरे एकाग्र आवेग के साथ ऊपर उठती है, तब सचमुच चीज़ बहुत दूर तक जाती है। अन्यथा उसमें हमेशा ज़रा-सा दम्भ, ज़रा-सा आत्म-सन्तोष, ज़रा-सी आत्म-दया भी—ऐसी सब प्रकार की चीज़ें मिली रहती हैं जो सब कुछ बिगाड़ देती हैं। लेकिन यह है कठिन।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ६, पृ. ४५३-५४

*व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं है, केवल भगवान् का ही अस्तित्व है, यदि इस अनुभूति को पाने के लिए व्यक्ति प्रयत्न करे, तो क्या इस तरह वह अपने अहं से बाहर निकल सकता है?*

व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं है? मुझे पता नहीं कि मानसिक रूप में कोशिश करके व्यक्ति किसी भी वस्तु को पा सकता है, क्योंकि यह एक प्रकार की मानसिक चेष्टा है। इस तरह व्यक्ति मानसिक रचनाएँ गढ़ता रहता है और उसे कोई विशेष प्राप्ति नहीं होती। नहीं, आवश्यकता ऐसी चीज़ की है जो सहज, तीव्र हो, सत्ता में जलती हुई **ज्वाला**, अभीप्सा की **ज्वाला**, एक ऐसी वस्तु... पता नहीं इसे कैसे व्यक्त किया जाये।

यदि चीज़ मस्तिष्क में ही चलती रहे, तो कुछ भी नहीं हो सकता, कुछ भी नहीं।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ६, पृ. १५८

# दैनन्दिनी

**सितम्बर**

१. तुम्हारा शरीर चाहे जहाँ भी हो, यदि तुम अपने हृदय में भगवान् के प्रति एकाग्र होओ तो वे सदा तुम्हारे साथ रहेंगे।

२. यह बहुत अच्छा है कि तुमने प्रयास किया, लेकिन तुम्हें इतनी जल्दी हतोत्साह नहीं होना चाहिये मात्र इसलिए कि तुम्हें सफलता तुरन्त नहीं मिल रही। इसके विपरीत, तुम्हें अपने प्रयास में तब तक लगे रहना चाहिये जब तक तुम सफल न हो जाओ।

३. प्रश्न : माँ, मैं अपनी चैत्य चेतना को कैसे पा सकता हूँ?
उत्तर : अभीप्सा, प्रार्थना और एकाग्रता द्वारा।

४. नीरवता में सबसे बड़ी अभीप्सा होती है। हम प्रार्थना करते हैं कि उसमें अधिक-से-अधिक ग्रहणशीलता भी हो।

५. धन्यवाद प्रभो, आप हर सच्ची अभीप्सा का चमत्कारिक रूप से उत्तर देते हैं।

६. नीरवता में बड़ी-से-बड़ी भक्ति होती है।

७. जब चेतना पूरी तरह तेरी उपस्थिति की ओर जाग जाती है तो एक क्षण ऐसा आता है कि नीरवता में ही सबसे अधिक शक्तिशाली क्रिया होती है।

८. मैं सर्वांगीण और सम्पूर्ण रूप से सच्चा और निष्कपट बनने की अभीप्सा करता हूँ।

९. तुम्हें इन छोटी-मोटी चीज़ों को बहुत महत्त्व न देना चाहिये। महत्त्वपूर्ण बात है उस आदर्श को कभी अपनी आँखों से ओझल न होने दो जिसे तुम सिद्ध करना चाहते हो और उसे सिद्ध करने के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करो।

१०. प्रश्न : मधुर माँ, व्यक्ति योग कैसे करता है?
उत्तर : पूरी तरह सच्चे बनो, कभी दूसरों को छलने की कोशिश मत करो। और कोशिश करो कि अपने-आपको कभी धोखा न दो।

११. यह देखना आसान है कि भूलें सत्ता में सच्चाई के अभाव के कारण

होती हैं—इससे निकलने का एकमात्र उपाय है सच्चा होना। तुम्हें इस उद्देश्य के लिए संकल्प, शक्ति और ज्ञान दिये गये हैं।

१२. अभीप्सा को अभिव्यक्त करने में कभी कोई हानि नहीं होती—इससे उसे शक्ति मिलती है।

१३. हमेशा की तरह मैं तुम्हें स्थिर और शान्त रहने के लिए कहूँगी। हमारी एकमात्र अभीप्सा आध्यात्मिक प्रगति के लिए होनी चाहिये। केवल उसी के लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिये।

१४. हर रात सोने से पहले हमें यह प्रार्थना करनी चाहिये कि जो भूलें हमने दिन में की हैं वे भविष्य में दोहरायी न जायें।

१५. भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही सच्चा आराम है।

१६. तुम्हें कठिनाइयों के बीच भी स्थिर और अचञ्चल रहना सीखना चाहिये। सभी बाधाओं पर विजय पाने का यही तरीक़ा है।

१७. बहुधा लोग जिस तरह समर्पण करते हैं : भगवान् अपनी इच्छा अभिव्यक्त करें, लेकिन वह मेरी इच्छा के साथ एक हो।

१८. हे कृतज्ञते! तुम ही समस्त बन्द द्वारों को खोल देती हो और रक्षा करने वाली भागवत कृपा को अन्दर प्रवेश करने देती हो।

१९. तुम्हारी प्रगति और तुम्हारे काम में मदद देने के लिए मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ है। तुम जिन कठिनाइयों को आज नहीं पार कर सकते उन्हें कल या बाद में पार कर लिया जायेगा।

२०. बहुत शान्त रहो और तुम मेरी सहायता का अनुभव अवश्य करोगे।

२१. हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें हमेशा अधिकाधिक सिखायें, अधिकाधिक बोध दें, हमारे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करें, हमारे मनों को प्रकाश दें।

२२. हे प्रभु, वर दे कि एक बार की गयी और पहचानी गयी मूर्खता फिर न होने पाये।

२३. भागवत कृपा से हमेशा यह प्रार्थना करो कि वह तुमसे हमेशा ठीक चीज़ ठीक तरह से करवाये।

२४. आत्म-प्रभुत्व का अर्थ है अपने और अपनी गतिविधियों के बारे में सचेतन होना, वही करना जिसे करने का तुमने निश्चय किया है, वह नहीं जिसे दूसरे करवाना चाहते हैं।

२५. कम बोलो, सच्चे बनो, पूर्ण निष्कपटता के साथ अपने कार्य में जुटे रहो।

२६. अपने निश्चय को पूर्ण और निरन्तर बनाये रखो और धीरे-धीरे तुम्हारा भविष्य तुम्हारे सामने प्रकट हो जायेगा।

२७. और लोग क्या करते हैं, इससे अपने-आपको व्यथित न करो, यह बात जितनी बार कही जाये कम है। मूल्यांकन न करो, आलोचना न करो, तुलना न करो, यह तुम्हारा काम नहीं है।

२८. संसार दुःख-दर्द और कष्टों से भरा है।
हमें कोशिश करनी चाहिये कि कभी किसी के दुःख-दर्द को बढ़ाने वाले न बनें।

२९. साधना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, भौतिक चेतना से सम्बद्ध किसी भी चीज़ के लिए लोभ। लोभ चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, यानी तथाकथित आवश्यकताओं या सुख-सुविधा की चीज़ों की चाह—यह साधना की सबसे गम्भीर बाधाओं में से एक है।

३०. लोभ के द्वारा हर छोटा सन्तोष तुम्हें अपने लक्ष्य से एक क़दम पीछे ले जाता है।

# अविराम गति

चारों ओर ध्वनि... केवल ध्वनि...

घर, बाहर, सड़क, सब तरफ़ आवाज़ ही आवाज़...

रात, कुछ समय, सब स्तब्ध था... उसके बाद मिला पूर्व में उषा की लाली का ज़रा-सा आभास... दिशाएँ मुखरित हो उठीं।

अलसायी आँखों से किसी ने सदर दरवाज़े की किल्ली खोली... खट् से शब्द हुआ... नौकरानी काम पर आयी...

पड़ोस के लड़के की परीक्षा... भोर होते-न-होते सस्वर पढ़ाई प्रारम्भ ... नीचे के किरायेदार की लड़की गाना सीखती है—प्रातःकाल पूरे दम में सा-रे-ग-म का अभ्यास शुरू... सरकारी दूध की गाड़ी मुहल्ले को मुखरित करती हुई चली गयी है... पास की सड़क पर से पहली ट्राम धड़धड़ाती

निकल गयी...

अब भी है ध्वनियों का अपना अलग-अलग अस्तित्व... पर थोड़ी ही देर में सब शब्द मिल बदल जायेंगे एक प्रचण्ड शब्द-समुद्र में...

इसी शब्द-समूह के किनारे निवास करते हैं हम सभ्य मानव।

शब्द और गति... गति और शब्द... हममें ये आलोक-छाया की तरह घुल-मिल गये हैं...

शब्दहीन गति की कल्पना सम्भव नहीं...

आज का सभ्य मानव नीरवता को जानता नहीं, पहचानता नहीं... नीरवता से वह भय खाता है...

शहर से दूर, प्रकृति की शान्त गोद में जाते समय साथ ले जाता है रेडियो... ट्रांज़िस्टर।

निर्जन वन में बैठ ट्रांज़िस्टर का बटन दबा वह दुनिया के जन-रव को खींच ले आता है... उसी में है उसका उल्लास, उसका आनन्द।

पर उड़ कर भाग जाती है एकान्त वन की श्यामा, पपीहा।

*

सभ्य मानव की ध्वनि का राज्य... गति का राज्य... किन्तु यह ध्वनि अविराम नहीं, नाना बाधाओं से टूट जाता है इसका छन्द... इसकी गति चिर-चञ्चल नहीं, अपने ही चलने के बोझ से श्रान्त, क्लान्त यह हाँफने लग जाती है।

गहन रात्रि में शहर में आकर हठात् थम जाने वाली इस गति को क्या तुमने कभी देखा नहीं? थका-हारा भिखारी सड़क-किनारे सोया पड़ा हो जैसे...

*

जो गति अविराम है उसके चलते पहिये से ध्वनि नहीं उठती... वह कभी थकती नहीं... रुकती नहीं... सानन्द वह चलती रहती, सदा चलती ही रहती...

स्वर-सधी वीणा की तरह, श्रेष्ठ कवि की कविता की तरह उसका गति-चक्र छन्द और सुर में गुँथा होता है...

देखा है कभी इस गति का रूप? सुनी है कभी उस गति-चक्र की नीरवता?

दरवाज़ा खोलो... चलो मेरे साथ...

बैठो यहाँ—इस पेड़ के नीचे...

इश्-श्-श् चुप... श्यामा गा रही है...

*

देखते हो सूखे पलाशों की कतार?

न फूल, न पत्ते। डालियाँ काली पड़ गयी हैं धूप में जल कर...

ज़रा निकट जाओ, देखो उस सूखे मुरझाये-से शरीर पर गाँठ-गाँठ में कुछ उभरा आ रहा है...

उस सूखे अचल पलाश में छिपी है अविराम गति... चल रही है अविराम सृष्टि... है छन्दमयी नीरवता... न कलरव, न उतावली... अविराम चल रहा है काम... काम, दुनिया का सबसे अनोखा काम... फूल खिलाने का काम... फलों से फल बनाने का काम...

आज सामने जो सूखे पलाश देख रहे हो, कुछ ही दिनों में देखोगे उनकी डाल-डाल पर जल उठी हैं दीप की हज़ारों रक्तिम शिखाएँ...

किसी जादू से यह नहीं हो सकता।

आकाश, प्रकाश व धरती से रस ले-ले पल-पल चल रही है वहाँ चेष्टा ... चल रहा है विराट् प्रयास... नीरव... अनायास... इतना अनायास कि उसके पीछे कोई प्रयास ही नहीं... इतना स्थिर कि उसके पीछे कोई गति ही नहीं जैसे...

शहरी कलरव से दूर—कभी-कभी स्तब्ध पलाश तले आ बैठता हूँ...

देखता हूँ... उस शुष्क आवरण की आड़ में बहती प्राण की शान्त नदी... सुनता हूँ... उसकी कलकल ध्वनि...

अनुभव करना चाहता हूँ : सूखी टहनी में पत्ता फूट कर, कली निकल कर, फूल खिल कर, फल आकर, सुगन्ध होकर, मधुरिमा बन कर, कैसे जीवन नित्य अपना परिचय देता है...

पल-भर अनुभव करता हूँ, अपने शरीर के अन्दर उस महान् रहस्य के एक क्षणिक स्पन्दन का...

असंख्य दुःखों के बीच ऐसे ही क्षणों में चेतना अमृतमयी हो उठती है...

और तब जीना भी अच्छा लगता है...

'पुरोधा' से साभार —नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय

# भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा

भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा का प्रश्न जटिल और कठिन है, लेकिन शुरू में मैं कहता चलूँ कि मनुष्य को बहुत स्वाधीनता दी गयी है, बहुत-सी चीज़ें बदली जा सकती हैं और आज अतिमानस के अवतरण के बाद यह बात और भी ज़्यादा सम्भव है। हमें अपने मन से ये पुराने विचार हटा देने चाहियें कि सब कुछ पहले से निश्चित है। हम चेतना के अमुक स्तर तक पहुँचने के बाद ही जान सकते हैं कि चीज़ें किस हद तक पूर्व-निर्दिष्ट हैं और हमें कितनी स्वाधीनता प्राप्त है। हम चाहे जितना अध्ययन कर लें, चाहे जितने उपदेश और भाषण सुन लें, लेकिन जब तक हम अपनी चेतना को ऊपर न उठा सकें तब तक ये चीज़ें हमें कोई स्पष्ट विचार नहीं दे सकतीं।

मैं तुम्हें एक सादा सा उदाहरण देता हूँ। मान लो कि तुम एक बहुत ऊँचे स्थान पर हो जहाँ से तुम सब कुछ देख सकते हो। तुम एक दिशा से एक मोटर को आते देखते हो और दूसरी दिशा से एक और गाड़ी को। तुम देखते हो कि अगर कोई चीज़ इन दोनों गाड़ियों को न रोके तो अमुक स्थान और अमुक समय पर दोनों आपस में अवश्य टकरायेंगी। यह पूर्व-निर्देश को समझने का एक तरीक़ा है। लेकिन अगर रास्ता निश्चित करने वाली रोशनी प्राप्त हो—जैसी कि शहरों में होती है—तो तुम दोनों में से किसी एक गाड़ी को रोक सकते हो और टक्कर होने से बच जाती है। आन्तरिक लोकों में भी ऐसा ही होता है। अगर तुम्हें आन्तरिक ज्ञान प्राप्त हो तो घटनाएँ बदली जा सकती हैं।

जगत् में कुछ महान् शक्तियाँ कम महान् बलों के साथ काम करती हैं। सबसे पहले है भागवत इच्छा। भागवत इच्छा सारे विश्व में कार्य करती है, लेकिन करती है स्वयं अपने द्वारा आरोपित सीमाओं के अन्दर। ये लीला के लिए वैश्व शक्तियों की स्वयं अपने ऊपर आरोपित सीमाएँ होती हैं। जगत् में भागवत इच्छा मनुष्य के विकास के लिए काम करती है, भगवान् की अभिव्यक्ति के लिए काम करती है और उसे कोई नहीं बदल सकता।

हम उसके कार्य में देर लगा सकते हैं पर भागवत इच्छा को बदल नहीं सकते। भागवत इच्छा सबके भले के लिए, सबकी क्षेम-कुशल के लिए होती है। यदि हम भागवत इच्छा के साथ, उसकी धारा के साथ हैं तो वह हमें उच्चतम कल्याण तक पहुँचा सकती है। जानने-लायक़ यह पहली चीज़ है।

किसी ने श्रीअरविन्द से पूछा कि सफल नेता कैसे बना जा सकता है तो उन्होंने उत्तर दिया कि दिव्य शक्तियाँ, दिव्य धारा एक दिशा में चलती हैं। अगर तुम उन शक्तियों के साथ मिल कर काम करते हो, उनके साथ सामञ्जस्य रख सकते हो तो अमुक घटनाओं का होना ज़रूरी होता है। लोगों को सामान्यतः इन बातों का ज्ञान नहीं होता अतः वे सोचते हैं कि स्वयं तुम उन परिणामों को लाये हो और वे तुमको अपना नेता मान लेते हैं। लेकिन जब तुम इन शक्तियों से उलटे चलते हो तो सफल नहीं हो सकते।

वैश्व शक्तियाँ भी काम में लगी हैं। वैश्व शक्तियाँ अनेक स्तरों पर कार्य करती हैं—जैसे अधिमानस स्तर, अन्तर्भासात्मक मन, प्रकाशमय मन, उच्चतर मन, स्वयं मन और प्राण पर। वे उन भौतिक शक्तियों से ज़्यादा शक्तिशाली होती हैं जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं। और इन वैश्व शक्तियों के उपयोग से उच्चतर स्तर निम्नतर को प्रभावित कर सकते हैं। हर स्तर या लोक का अपना नियम होता है और एक का नियम दूसरे पर लागू नहीं होता। अगर भौतिक लोक के नियम को बदलना है तो किसी उच्चतर लोक के नियम को लाना होगा—उदाहरण के लिए प्राण, मन या चैत्य या उच्चतर लोकों के नियम को भौतिक स्तर पर उतारना होगा।

अगर हम निम्नतर लोकों में प्रार्थना, योग, पूजा या इसी प्रकार के किसी अन्य उपाय से उच्चतर लोक की नियति को नीचे उतार सकें तो घटनाएँ बदल सकती हैं। आज हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि इस उच्चतर नियति को नीचे कैसे उतारा जा सकता है और उच्चतम सम्भव चेतना में कैसे रहा जा सकता है ताकि सर्वोत्तम चीज़ को, केवल हमारे लिए सर्वोत्तम नहीं बल्कि बदली हुई तथा नयी परिस्थितियों में सर्वोत्तम चीज़ को कैसे लाया जाये।

बहुत-सी चीज़ें हैं जिनसे लगता है कि पूर्व-निश्चिति है। तुम अपने स्वप्नों में घटनाएँ देखते हो और वे सचमुच घटती हैं। तुम किसी ज्योतिषी से सलाह करते हो और उसकी बतायी हुई बातें सचमुच होती हैं। लेकिन

माताजी ने हमें ऐसी बातों के बारे में भी सावधान किया है; अतः हमें उन चीज़ों के बारे में भी सावधान रहना चाहिये जिन्हें हम स्वीकार करते हैं। मुझे याद है, एक बार मुझे एक महिला ने लिखा कि उसने एक स्वप्न देखा था और उसके स्वप्न हमेशा ठीक निकलते हैं। वह उसके परिवार के बारे में दुःस्वप्न था और वह बहुत ही चिन्तित हो उठी थी। मैं वह पत्र माताजी के पास ले गया। उन्होंने कहा कि उसके स्वप्न इसलिए सच्चे निकलते हैं क्योंकि वह यह **मानती है** कि वे सच्चे होंगे। अगर वह अपनी इस कल्पना से पिण्ड छुड़ा ले तो वह स्वप्न सच्चा न होगा। भगवान् की कृपा से वह स्वप्न ठीक नहीं निकला। हालाँकि उस पत्र को आये हुए तीस वर्ष हो चुके हैं।

मुझे एक और घटना याद है। माताजी को एक जन्मपत्री दिखलायी गयी। ज्योतिषी ने लिखा था कि अमुक महिला के पति के साथ कोई दुर्घटना होगी। (सामान्यतः महिलाएँ हमेशा अपने पति के बारे में चिन्तित रहती हैं) अतः वह महिला बहुत चिन्तित थी और उसने माताजी की सुरक्षा चाही थी। माताजी ने कहा, "वह जन्मपत्री मेरे हाथ में दो।" उन्होंने उसे अपने हाथ में लेकर अपनी गोद में रखा और क़लम उठा कर उस पर दो आड़ी-तिरछी लकीरें खींच दीं और कहा, "उससे कह दो कि अब नियति मिटा दी गयी। उसके पास यह भेज दो। अब यह मामला समाप्त।" यह मज़ेदार है कि माताजी ऐसे मामलों में कैसे व्यवहार करती थीं।

मैंने अपने पुराने विश्वासों और विचारों के कारण बहुत कष्ट पाया है। मैंने बहुत-सी हिन्दू-गाथाएँ पढ़ी थीं और वे मेरे अन्दर, मेरी चेतना में धँस गयी थीं। श्रीअरविन्द ने हमें जो नये विचार दिये हैं उन्हें सोख सकने से पहले इन्हें हटाना ज़रूरी था। इसीलिए, यदि हम अतिमानसिक जीवन चाहें तो हमें सब कुछ पढ़े-गुने को साफ़ करना होगा। जिन लोगों का सौभाग्य उन्हें श्रीअरविन्द के सम्पर्क में ले आया है उन्हें पूर्ण बनने की अभीप्सा करनी चाहिये, केवल इस अर्थ में नहीं कि वे बुद्धिमान्, बहुत अच्छे लोग बनें बल्कि वे अपने अन्दर उच्चतर, महत्तर चीज़ को लाने की कोशिश करें और यह तभी हो सकता है जब वे अपनी सिलेट को पोंछ कर साफ़ कर दें और अपने अन्दर उच्चतर चेतना को उतरने और काम करने दें।
(क्रमशः)

—नवजातजी

# एक शिष्या के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

*(एक शिष्या के नाम पत्र जो १९४४ में आठ वर्ष की उम्र में आश्रम आयी थीं और ग्यारह वर्ष की उम्र में यहाँ के शारीरिक शिक्षण-विभाग में कप्तान बन गयीं। उन्होंने तीस वर्षों तक इस विभाग का कार्य किया।)*

जब तुम भगवान् के साथ पूरी तरह, सच्चाई के साथ प्रेम करते हो तो तुम उनकी सृष्टि और उनके प्राणियों से भी प्रेम करते हो; और स्वभावतः उन प्राणियों में कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें तुम अपने ज़्यादा नज़दीक पाते हो और जिनसे तुम विशेष प्यार करते हो। लेकिन तब तुम जिस प्रेम का अनुभव करते हो वह सामान्य मानव प्रेम की तरह स्वार्थ-भरा नहीं होता, वह ऐसा प्रेम नहीं होता जो पकड़े रखना चाहता है या अधिकार करना चाहता है, बल्कि ऐसा प्रेम होता है जो बदले में कुछ माँगे बिना अपने-आपको देता है।

शान्त और सुखी जीवन के लिए प्रेम के आनन्द के लिए प्रेम करना सबसे अच्छी स्थिति है। दूसरे शब्दों में कहें तो सभी चीज़ों के अन्दर भगवान् से प्रेम करना।

अगर इसका चरम बिन्दु यह हो कि तुम वही चाहो जो भगवान् चाहते हैं, तो पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती है।

५ जनवरी १९७२

मानव-जीवन की दीर्घता के लिए सौ की संख्या अपने-आपमें कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। चूँकि मनुष्य-जीवन इतना जटिल हो गया है इसलिए वह अपेक्षया छोटा भी हो गया है और अब विरले ही सौ वर्ष तक जीते हैं।

जब मनुष्य प्रकृति के साथ सामञ्जस्य में जीते थे तो उनका आयुष्य अधिक होता था।

जब मनुष्य भगवान् से और भगवान् के लिए जीता है तो उसका जीवन ज़्यादा लम्बा होता है और एक दिन भगवान् उसे अमरता का रहस्य बतला देंगे।

६ जनवरी १९७२

जो लोग श्रीअरविन्द की शताब्दी मना रहे हैं उनका आह्वान उनकी उपस्थिति को अधिक सक्रिय और प्रभावकारी बनाता है। लेकिन जो हमेशा उनके साथ रहते हैं उन्हें इससे कोई खास फ़र्क नहीं पड़ता।

जब लोग समाधि के पास उन पर एकाग्र होते हैं तब भी यही होता है; वे हमेशा वहाँ रहते हैं, परन्तु उनकी पुकार के उत्तर में उनकी उपस्थिति अधिक सक्रिय हो जाती है।

७ जनवरी १९७२

यहाँ उन सब विद्यार्थियों की ज़रूरत नहीं है जो जीवन में सफल होना और पैसा कमाना सीखना चाहते हैं। हम यहाँ केवल उन्हीं को चाहते हैं जो उच्चतर जीवन जीना चाहते हैं। बच्चों को निश्चय करना चाहिये कि वे नव जीवन के होना चाहते हैं या "सफल" होना और सामान्य जीवन बिताना चाहते हैं। मेरा ख़याल है कि कुछ बच्चे चले जायेंगे।

३० जनवरी १९७२

उस अज्ञानमयी सद्भावना से हमारी रक्षा कर जो सोचती है कि वह हमारी सेवा कर रही है परन्तु सचमुच हमें भ्रष्ट करती है। हमारी चेतना को समस्त अज्ञान से शुद्ध कर ताकि हम 'सत्य' में तेरी सेवा कर सकें।

१२ फ़रवरी १९७२

मैंने परम प्रभु से कहा है कि वे 'उन्हें' पाने में तुम्हारी सहायता करें और मैं तुम्हें रोज़ इस शोध में सहायता करने में एक मिनट देने को तैयार हूँ।

मैं बस इतना ही चाहती हूँ कि जब हम दोनों मिल कर एकाग्र हों तो तुम नीरव रहो।

अगर तुम शिथिल हो सको और सहज निश्चिन्त रह सको तो बहुत अच्छा होगा; अगर तुम नीरवता में प्रवेश कर सको तो यह सबसे अच्छा होगा। हर रोज़ हम इस प्रार्थना के साथ शुरू करेंगे : "वर दो कि मैं 'तुम्हारी उपस्थिति' के बारे में सचेतन हो सकूँ" और हम दोनों मिल कर नीरवता और अपनी अभीप्सा के उत्साह में क्षण-भर के लिए अभीप्सा करेंगे।

१० मार्च १९७२ **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १७, पृ. ४८२-८४

# "लाडला बेटा"

जैसे ही सर्जन ऑपरेशन थियेटर से बाहर निकले, सैली दौड़ती हुई उनके पास गयी, "मेरा बेटा कैसा है डॉक्टर? वह ठीक तो हो जायेगा न? क्या मैं उससे मिल सकती हूँ?"

डॉक्टर साहब ने सिर झुका लिया। उनकी आँखों ने सब बतला दिया।

नर्स ने सैली का हाथ थाम लिया। माँ फफक उठी—क्यों छोटे बच्चों को कैंसर हो जाता है? **भ ग वा न्** क्या उनकी परवाह नहीं करते? **प्र भु**! कहाँ चले गये थे तुम जब मेरे बच्चे को तुम्हारी सख़्त ज़रूरत थी?

डॉक्टर ने उसके कन्धे को कस कर पकड़ कर सैली का सैलाब बहने दिया। कुछ ठहर कर वे बोले, "नर्स के साथ आप अपने बच्चे के शरीर के पास कुछ देर बैठ आइये, उसके बाद ही हम उसके शरीर को यूनिवर्सिटी के लिए रवाना करेंगे।"

सैली का बेटा जिमी अपनी बीमारी के बारे में अच्छी तरह जान गया था और वह यह भी बख़ूबी समझ गया था कि उसे अब माँ को छोड़ कर परम पिता के पास जाना होगा। वह छोटा बच्चा बड़ों से भी ज़्यादा सचेतन बन गया था। अस्पताल में माँ से एक दिन वह बोला था, "मम्मा, एक बात कहनी है, एक दिन मैंने पढ़ा था कि किसी के भगवान् के पास चले जाने के बाद उसकी आँखें किसी ऐसे को दी जा सकती हैं जिसकी आँखें ठीक काम नहीं कर रही हों, और नयी आँखों से वह दुनिया की सारी ख़ुशियाँ अपने हृदय में बटोर सकता है, इसलिए माँ! मैं चाहता हूँ कि जब मैं भगवान्जी के पास चला जाऊँ तो तुम मेरे शरीर की जितनी चीज़ें हो सकें दूसरे बच्चों को दिलवा देना क्योंकि मरने के बाद मैं तो उनका उपयोग कर नहीं पाऊँगा, कोई और बच्चा उन्हें पाकर अपनी माँ के पास ज़्यादा दिनों तक रह जाये इससे अच्छा और क्या हो सकता है न मम्मा?"

सैली चीख उठी थी—"नहीं, नहीं जिमी बेटे, तुम मेरे पास ही रहोगे, कहीं नहीं जाओगे... कहीं नहीं..." लेकिन कहीं उसकी अन्तरात्मा ने हामी भर दी थी।

जिमी के मृत शरीर का रोम-रोम माँ से कह रहा था, "रोओ मत मम्मा, अब तक मैं तुम्हारा इकलौता था, मेरे शरीर का जो-जो हिस्सा जितनों के

काम आयेगा तुम्हारे उतने जिमी हो जायेंगे...।"

मेरे बेटे, तुम्हारा दिल सोने का है, तुमने अपना छोड़ हमेशा औरों के कल्याण के लिए सोचा... सैली अपने मृत बेटे के बालों को सहलाते-सहलाते उसे अपने आँसुओं का अर्घ्य चढ़ा रही थी।

"क्या आप अपने बेटे के सुनहरे बालों की एक लट यादगार के रूप में रखना चाहेंगी?" नर्स ने पूछा।

अपने बच्चे को छोड़ उसकी निशानी लिये सैली उस अस्पताल से हमेशा के लिए निकल गयी जहाँ उसने पिछले छह महीने लगभग लगातार गुज़ारे थे। बेटे का सारा निर्जीव सामान उसकी गाड़ी के पीछे की सीट पर पड़ा सिसक रहा था और सामने की सीट पर अपने बेटे की यादों को हृदय से जुड़ाये, बरबस बरसती आँखों के धुँधलके के साथ सैली गाड़ी चला रही थी।

घर पहुँच कर उसका शरीर शरीर नहीं रहा था, उसका हृदय हृदय नहीं... वह मानों इस्पात की कोई मशीन बन गयी थी। यन्त्र की तरह उसने जिमी के सारे खिलौने गाड़ी से बटोरे, उसके कमरे में ठीक उन-उन जगहों पर रखे जहाँ-जहाँ जिमी सजाता था। लेकिन अब तो उन खिलौनों की, उस कमरे की आत्मा ही उठ गयी थी, पथरायी आँखों से सैली ने उसे देखा और निढाल जिमी के बिस्तर पर जा गिरी, तकिये को सीने से लगा कर न जाने कितनी देर अपने दिवंगत बेटे को याद करते-करते सिसकती-बिलखती रही... शायद ईश्वर ने उस पर नींद की चादर कुछ देर के लिए ओढ़ा दी। आधी रात को सैली को कुछ होश आया, बन्द आँखों से उसने एक छोटी चिड़िया को जिमी के कमरे की खिड़की से बाहर निकलते देखा!! वह चौंक कर उठ बैठी; सारा कमरा वैसे ही बेजान पड़ा था, खिड़की खुली हुई थी, लेकिन हवा पर भी मुर्दनी छायी हुई थी, पत्ता तक न हिल रहा था... कि अचानक कमरे में तकिये के पास कुछ फड़फड़ाया!! मुड़ा हुआ काग़ज़?!?

वह एक चिटठी थी... सैली ने पढ़ना शुरू किया:

प्यारी मॉम,

मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम मुझे बहुत याद करोगी लेकिन यह

मत सोचना मॉम कि मैं तुम्हें कभी भूल पाऊँगा या तुम्हें चाहना छोड़ दूँगा क्योंकि मैं यह कहने के लिए तुम्हारे आस-पास न होऊँगा कि **"मैं तुमसे बहुत प्यार करता हूँ।"** मैं रोज़ तुम्हारे बारे में कई बार सोचूँगा और हर रोज़ मेरा प्यार तुम्हारे लिए बढ़ता ही जायेगा। एक न एक दिन हम फिर मिलेंगे मॉम, लेकिन तब तक के लिए अगर तुम किसी बच्चे को गोद लेना चाहो तो बहुत अच्छा होगा, वह मेरी तरह तुम्हारे साथ खेल भी सकेगा, और उसे तुम मेरा कमरा सभी खिलौनों के साथ दे देना। अगर तुम किसी लड़की को गोद लेना चाहो तो उसमें भी कोई मुश्किल नहीं है, बस तुम्हें मेरे कमरे की सजावट बदल देनी होगी; शायद वह लड़कों के खिलौने मोटर-कार वग़ैरह न पसन्द करे, उसे तुम गुड्डे-गुड़िया ख़रीद देना।

माँ, जब तुम मेरे बारे में सोचो तो दुःखी बिलकुल नहीं होना, यह जगह बहुत ही बढ़िया है। मेरे यहाँ पहुँचते ही मुझे दादाजी-दादीजी मिल गये और उन्होंने मुझे यहाँ घुमाया, लेकिन जानती हो, यह बहुत बड़ी जगह है, पहले कुछ दिन तो मुझे यहाँ का कोना-कोना छानने में ही लग जायेंगे।

ओह मॉम, यहाँ के फ़रिश्ते बड़े अच्छे हैं, बड़े ही ख़ुशमिज़ाज और प्यारे-प्यारे। जानती हो, 'जीसस' की शकल वैसी बिलकुल नहीं है जैसी हम अपने यहाँ चित्रों में देखते हैं। लेकिन मैं तुरन्त समझ गया कि यही हैं हमारे सबके 'जीसस'। हाँ, लम्बे तो उतने ही लगे मुझे, लेकिन चेहरे से तो उनके नूर टपकता है, उदासी नहीं। वे ही मुझे 'भगवान्' के पास ले गये थे!! और बूझो तो सही मॉम, फिर क्या हुआ??? मुझे भगवान् ने सीधा अपनी गोदी में बिठा लिया, ठीक उसी तरह जैसे मैं लपक कर तुम्हारी गोद में चढ़ जाया करता था न?? वे मुझसे ऐसे बतियाते रहे मानों कई साल के बिछुड़े अपने गहरे दोस्त से बतिया रहे हों...!! मैंने भगवान् से कहा कि मैं तुम्हें चिट्ठी लिखना चाहता हूँ, अपना और यहाँ का हाल बताना चाहता हूँ कि कितनी राजी-ख़ुशी में हैं हम सब यहाँ, लेकिन मैं जानता था कि स्वर्ग से धरती पर ऐसे चिट्ठी-पत्री नहीं होती, लेकिन सोच सकती हो मॉम, भगवान् ने मुझसे कहा, "जिमी, क्यों नहीं होती भला? वह तो लगातार चलती रहती है, इतनी कि धरती पर भी वैसी नहीं होती, हाँ, यह ज़रूर है कि उसे तुम काग़ज़ के रूप में नहीं देख पाते लेकिन "प्रार्थनाएँ" और क्या हैं??" मैं ज़रा उदास हो गया... कितनी मम्मियाँ हैं धरती पर,

कितनों के बच्चे यहाँ हैं, मैं प्रार्थना करूँ और प्रार्थना तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कहीं देर से पहुँचे तो...?? माँ, भगवान् तो भगवान् ही हैं न, पूरी बात समझ गये और पता है मुझे अपना क़लम निकाल कर दिया, काग़ज़ थमा कर बोले, लो लिख दो अपना सन्देसा मॉम को। मेरे ख़याल से जो फ़रिश्ता तुम्हें यह देने आयेगा वह ईश्वर का ख़ास सन्देशवाहक है, नाम है उसका 'गैब्रिएल'। भगवान् ने मुझसे तुम्हारे उस प्रश्न का भी जवाब लिखने के लिए कहा जो तुम मेरी बीमारी के समय उनसे रह-रह कर पूछा करती थीं, "कहाँ हो तुम हे ईश्वर? जब मेरे बेटे को तुम्हारी सख़्त ज़रूरत है?"

भगवान् ने कहा कि वे तब भी वहीं थे जब 'जीसस' को सलीब पर चढ़ाया गया था, वे हमेशा अपने हर एक बच्चे के साथ रहते हैं। लेकिन माँ, अब मैं समझ रहा हूँ कि हम जिसे 'अच्छा' या 'बुरा' कहते हैं वह सब यहाँ सचमुच 'अच्छा और भला' ही होता है। बस धरती पर हमारे देखने के नज़रिये में फ़र्क आ जाता है।

ओह मॉम, एक बात तो मैं भूल ही रहा था, भगवान् ने कहा है कि इस चिट्ठी को तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं पढ़ पायेगा, औरों के लिए तो यह कोरा काग़ज़ होगी।

माँ, अब मुझे भगवान् को उनका क़लम वापस करना है, उन्हें 'ज़िन्दगी की किताब' में कुछ नाम जोड़ने हैं। आज मेरा रात्रिभोज 'जीसस' के साथ है!! मैं तो बेसब्री से इन्तज़ार कर रहा हूँ क्योंकि खाना बड़ा बढ़िया होगा, ठीक वैसा ही जैसा तुम बनाती हो। अरे मॉम! जानती हो अब मैं सब कुछ खा-पी सकता हूँ। मेरे शरीर में कहीं कोई दर्द नहीं है। कैंसर पूरी तरह से ग़ायब हो गया है। मैं बहुत ख़ुश हूँ क्योंकि सच बताऊँ मॉम, मुझसे वह भयंकर पीड़ा और सही नहीं जा रही थी और न ही भगवान् से, इसीलिए उन्होंने "कृपा" के फ़रिश्ते को मुझे यहाँ ले आने के लिए भेजा। मुझे ले जाते वक़्त फ़रिश्ता मेरे कान में फुसफुसाया था—

"भगवान् ने कहा है कि तुम उनके लिए बहुत ही **विशेष** हो।"

सुना तुमने मॉम? अब तो कोई फ़िक्र नहीं न? अच्छा, अब और लिखूँगा तो सचमुच देर हो जायेगी—तुम्हारा ही बेटा जिमी जो भगवान् का भी "लाडला बेटा" बन गया है...।

सैली से अधिक प्रसन्न उस रात धरती पर और कोई न था। सचमुच

उसका बेटा ईश्वर का लाडला बेटा ही तो था तभी तो उसके तथाकथित मृत शरीर के भी अंग धरती पर दूसरे बच्चों के काम आयेंगे, और उसकी अन्तरात्मा को स्वयं प्रभु ने अपने हृदय में स्थान दे दिया था...।

*अग्निशिखा*, फ़रवरी २०१० से —वन्दना

# बूझो तो जानें

बचपन में
एक खेल खेला करते थे—बूझो तो जानें
तब भी अक्सर बूझ नहीं पाता था सही उत्तर
आज इतने लम्बे वर्षों बाद भी नहीं बूझ पा रहा
एक सरल-सी पहेली का उत्तर—
मैं कौन हूँ
तुम कौन हो
वह कौन है।

—श्री विश्वनाथ

**अग्निशिखा एवम् पुरोधा**
**श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका**
वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.
संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी
प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१
मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पांडिचेरी ६०५००१, भारत
**सम्पादक : वन्दना**
स्वामीः श्रीअरविन्द सोसाइटी, पांडिचेरी-६०५००१
दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८
Email: info@aurosociety.org
Website: www. aurosociety.org
**(५४ वर्षों से प्रकाशित पत्रिका)**

*... आत्मा के सत्य को केवल विचार का विषय ही नहीं बनाना है बल्कि उसे जीवन में उतारना भी है और उसे जीने के लिए सत्ता की संगठित एकाग्रता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जिस अतिमहान् परिवर्तन को यह योग सिद्ध करना चाहता है उसे अधकचरी इच्छा-शक्ति से या ऊर्जा के स्वल्पांश से या हिचकिचाते मन से नहीं साधा जा सकता। जो भगवान् को चाहता है उसे भगवान् के प्रति और केवल भगवान् ही के प्रति अपने-आपको पूरी तरह से दे देना होगा।*

*श्रीअरविन्द*

*शुभ कामनाओं सहित*

**श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,**
**जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)**
www.aurosocietyrajasthan.org

*With best compliments from:*

**AURO MIRRA**
**INTERNATIONAL SCHOOL,**

110, Gangadhar Chetty Road,
Ulsoor, Bangalore-560042
Email:accounts@auroschoolsulsoor.org
www.auroschoolsulsoor.org

**AURO MIRRA CENTRE OF EDUCATION**
**An Integral School,**
SSST Nagar, Patiala
E-mail: auromirrapta@gmail.com

**SRI AUROBINDO**
**INTERNATIONAL SCHOOL**
(A Senior Secondary School)
Sri Aurobindo Marg,
Rose Garden-Bus Stand, Patiala
E-mail: auroschoolpta@gmail.com

Date of Publication: 1st September 2023
Rs. 30 (Monthly)
अग्निशिखा एवम् पुरोधा, सितम्बर २०२३, वर्ष १, अंक २, पूर्णांक २
प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१